₹ 200/-

अतिथि संपादक
प्रो. मजहर आसिफ

संरक्षक मंडल
श्री लक्ष्मीनिवास झुनझुनवाला
श्री रघुपति सिंघानिया
श्री गोपाल जीवराजका
श्री आलोक बी. श्रीराम
श्री महेश गुप्ता
श्री रवि विग
श्री अनिल खेतान
श्री ललित कुमार मल्होत्रा
श्री सुबोध जैन
श्री सुदर्शन सरीन
श्री प्रदीप मुल्तानी

संपादक मंडल
श्री राम बहादुर राय
श्री अच्युतानंद मिश्र
श्री बलबीर पुंज
श्री अतुल जैन
डॉ. भारत दहिया
श्री इष्ट देव सांकृत्यायन

प्रबंध संपादक
श्री अरविंद सिंह
arvindvnsingh@gmail.com

सज्जा
श्री नितिन पंवार
nitin_panwar@yahoo.in

मुद्रण
कुमार ऑफसेट प्रिंटर्स
381, पटपड़गंज औद्योगिक क्षेत्र,
दिल्ली-110092

मंथन

सामाजिक व अकादमिक सक्रियता का उपक्रम

वर्ष-40, अंक-4 **अक्टूबर-दिसंबर 2019**

गंधार विशेषांक–2

संपादक
डॉ. महेश चन्द्र शर्मा

प्रकाशक
एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान
एकात्म भवन, 37, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली–110002
दूरभाष : 011–23210074
ईमेलः manthanmagzin@gmail.com, ekatmrdfih@gmail.com

अनुक्रम

1	लेखकों का परिचय		03
2	संपादकीय		04
3	अतिथि संपादक की ओर से		05
4	बौद्धकाल में गंधार	डॉ. मो. मजहरुल हक	08
5	पूर्व-इस्लामी युग में गंधार : फिरदौसी के शाहनामा के संदर्भ में	प्रो. अलाउद्दीन शाह	14
6	गंधार में हिंदुत्व	डॉ. अरिहंत वर्धन	20
7	गंधार में गोरखनाथ के शिष्य	इष्ट देव सांकृत्यायन	22
8	पश्तो भाषा की बोलियों और संस्कृत के बीच प्राचीन स्वनिक संबंध	प्रो. मोहम्मद अनवर ख़ैरी	29
9	गंधार में इस्लाम का आगमन	डॉ. मो. अखलाक आजाद	32
10	भारतीय संगीत में गांधार एवं गंधर्व	डॉ. मधु रानी शुक्ला	37
11	गंधर्व विवाह की भूमि पर प्रेम	सोनाली मिश्रा	41
12	तक्षशिला : एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक केंद्र	प्रो. इश्तियाक अहमद	45
13	तक्षशिला : विश्व का प्राचीनतम विश्वविद्यालय	डॉ. शहबाज आमिल	48

आनुषंगिक आलेख

1	पाठकों के पत्र		04
2	सुश्रुत के उपकरण		12
3	द्रुहु के वंशज थे गंधार नरेश		13
4	कद्दू और अखरोट	पश्तून लोककथाएं	19
5	यूसुफ खान और शेरबानो	पश्तून लोककथाएं	28
6	पश्तूनवली		36
7	जिरगा		39
8	आदम खान और दुर्खानी	पश्तून लोककथाएं	40
9	लोया जिरगा		44
10	खुशनसीबी कहाँ है?	पश्तून लोककथाएं	47

आवरण चित्र परिचय : पेशावर स्थित गोरखत्री, झेलम जिले में टिल्ला जोगियां और प्राचीन भारत के एक मानचित्र का समुच्चित चित्र

लेखकों का परिचय

प्रो. मजहर आसिफ : सूफी साहित्य और मध्यकालीन भारतीय इतिहास के विशेषज्ञ, नई दिल्ली स्थित जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में फारसी एवं मध्य एशियाई अध्ययन केंद्र में आचार्य।
संपर्क : mazharassam@gmail.com

डॉ. मो. मजहरुल हक : नई दिल्ली स्थित जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के भाषा संकाय के अंतर्गत फारसी एवं मध्य एशियाई अध्ययन केंद्र में एसोसिएट प्रोफेसर हैं। भारत के पुनर्निर्माण कार्यक्रम के अधीन वह अफगानिस्तान में बतौर अनुवादक भी कार्य कर चुके हैं।
संपर्क : haqmazhar2004@gmail.com

प्रो. अलाउद्दीन शाह : जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के भाषा संकाय के अंतर्गत फारसी एवं मध्य एशियाई अध्ययन केंद्र में एसोसिएट प्रोफेसर हैं। उनकी प्रमुख कृतियों में एनिमल फीबल्स फ्रॉम मॉडर्न पर्शियापर्शिया (सह लेखक) तथा पंचतंत्र एंड बेस्ट फीबल्स इन पर्शियन लिटरेचर शामिल हैं।
संपर्क : ashah.jnu@gmail.com

डॉ. अरिहंत कुमार वर्धन : जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के भाषा संकाय के अंतर्गत फारसी एवं मध्य एशियाई अध्ययन केंद्र में एसिस्टेंट प्रोफेसर हैं।
संपर्क : arihant168@gmail.com

इष्ट देव सांकृत्यायन : वरिष्ठ पत्रकार एवं लेखक। एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान से संबद्ध। कुछ कृतियों का लेखन एवं अनुवाद।
संपर्क : idsankrityaayan@gmail.com

प्रो. मोहम्मद अनवर खैरी : काबुल विश्वविद्यालय (अफगानिस्तान) के पश्तो विभाग में असिस्टेंट प्रोफेसर हैं और साथ ही जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के भाषा संकाय के अंतर्गत फारसी एवं मध्य एशियाई अध्ययन केंद्र में विजिटिंग प्रोफेसर भी हैं। वे भाषाविद हैं तथा पश्तो लिपि एवं व्याकरण पर कई शोधलेख एवं पुस्तकें लिखी हैं।
संपर्क : anwar.khairee@gmail.com

डॉ. मोहम्मद अखलाक आजाद : पिछले 12 वर्षों से जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के भाषा संकाय के अंतर्गत फारसी एवं मध्य एशियाई अध्ययन केंद्र में अतिथि अध्यापक के तौर पर पढ़ा रहे हैं। उन्होंने टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज के लिए एक रिसोर्स पर्सन के तौर पर भी कार्य किया है।
संपर्क : akhlaque.azad@gmail.com

डॉ. मधु रानी शुक्ला : ने स्नातकोत्तर संगीत गायन तथा काकु विषय पर शोध कार्य काशी हिंदू विश्वविद्यालय से किया। यू.जी.सी. नेट वर्ष २००३ में नेशनल स्कॉलरशिप तथा संस्कृति मंत्रालय की सीनियर फेलोशिप प्राप्त हो चुकी है। ६ पुस्तकें लगभग १०० लेख किताबों में चौप्टर, रिसर्च पेपर्स प्रकाशित हो चुके हैं। शोध पत्रिका अनहद लोक का संपादन।
संपर्क : madhushukla011@gmail.com

सोनाली मिश्रा : इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र में प्रोजेक्ट एसोसिएट। कई पुस्तकों का अनुवाद। कहानियों का एक संकलन प्रकाशित। अनुवाद अध्ययन में पी-एच. डी.।
संपर्क : sonalitranslators@gmail.com

प्रो. इश्तियाक अहमद : जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के भाषा संकाय के अंतर्गत फारसी एवं मध्य एशियाई अध्ययन केंद्र में शिक्षक हैं। उन्होंने वहीं से 2001 में डॉक्टरेट उपाधि हासिल की है। अध्यापन एवं अनुसंधान में उनकी रुचि के क्षेत्र हैं फारसी अध्ययन, भारत-ईरान संबंध, सांस्कृतिक अध्ययन, फारसी-अंग्रेजी अनुवाद और अंतरराष्ट्रीय मामले आदि।
संपर्क : ahmed.jnu@gmail.com

डॉ. शहबाज आमिल : ने नई दिल्ली स्थित जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से ही स्नातक, परास्नातक और पीएच. डी उपाधि हासिल की है और अब वे वहीं भाषा संकाय के अंतर्गत फारसी एवं मध्य एशियाई अध्ययन केंद्र में फारसी पढ़ा रहे हैं। उन्होंने कई शोधपत्र और किताबें लिखी हैं। साथ ही वे हिंदी, उर्दू, फारसी, अंग्रेजी, तुर्की, उज्बेक और कजाक आदि कई भाषाएं जानते हैं।
संपर्क : shahbaz_amil@rediffmail.com

पाठकों के पत्र

प्रिय भाई महेश जी,

नमस्कार!

मंथन का गंधार विशेषांक मिला। उसे आद्योपांत पढ गया। अंग्रेजी वाला पहले मिला था। उसी पर प्रतिक्रियास्वरुप यह पत्र है।

अफगानिस्तान जब इस्लामी देश हो गया तो इस्लामी परंपरा के अनुसार इस्लाम के पूर्व तो 'अय्याय-ए-जाहिलय्या' (अज्ञान का युग) था। इसलिए उस देश में अपने अतीत को खोजने वाले (चाहे गौरव न भी करें) मिलना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। किंतु आप जो व्रत लेते हें उसे पूरा करके दिखाते हैं। गंधार पर विशेषांक निकालना दुष्कर कार्य था जो आपने कर दिया।

लोकेश चंद्र जी के लेख में उनका गहन अध्ययन झलकता है। उस लेख से अफगानिस्तान के इतिहास और प्राचीन संस्कृत से अवगत हो जाते हैं। यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वह तत्कालीन भारत में समाविष्ट था। उस प्रांत ने वैदिक काल में और बौद्ध-काल में चीन, मंगोलिया आदि सुदूर के देशों में भारत का संदेश पहुँचाने में महत्वपूर्ण योगदान किया।

श्री कौल ने भी गंधार के इतिहास पर महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की है।

श्री राजीव मल्होत्रा भारत के मंत्री हैं। उन्होंने तीन जनसंहारों की याद दिलाई है। किस प्रकार असभ्य और क्रूर आक्रांताओं ने लाखों हिंदुओं को मार डाला और गुलाम बनाए गए। एकता के अभाव और प्रतिरक्षा के प्रति सजग न होने से यह हुआ। हिंदूशाही और अन्य राजाओं ने 300 वर्ष तक इस्लामी आक्रमण को रोका। ईरान ने तो पहले ही युद्ध में पराजित होकर स्वध र्म खो दिया था।

श्री मोहन का लेख भी ऐतिहासिक घटनाओं की और ध्यान दिलाया है।

डॉ. रशीद के लेख में सामग्री तो प्रचुर है किंतु ऐसा प्रतीत होता है की उन्हें अंग्रेजी में लिखने का अभ्यास कम है।

अन्य लेख की गंधार के विविध पक्षों पर प्रकाश डालते हैं। एक लेख यह याद दिलाता है कि कैसे कांग्रेस ने ४७ के पश्चात सत्तारूढ़ होते ही खान अब्दुल गफ्फर खान को कोई सहायता नहीं की। इसलिए खान साहब ने अपनी आत्मकथा का शीर्षक दिया है। Thrown to the Wolves'।

इस खोजपूर्ण विशेषांक के लिए सुधी पाठक वर्ग आपका ऋणी रहेगा।

अब एक सुझाव- उत्तर भारत में चोल, पल्लव, पांड्य राजाओं या विजयनगर साम्राज्य के विघट में जानकारी अल्प है। ईसा के पूर्व में भी रोम साम्राज्य और ग्रीस आदि से प्रचुर मात्रा में व्यापार होता था। वहां के प्राचीन साहित्य से भी उत्तरवासी अपरिचित से हैं।

क्या कोई विशेषांक दक्षिण भारत पर केंद्रित हो सकता है।

आपका

ब्रजकिशोर शर्मा

महोदय,

नमस्कार!

मैं गंधार पर केंद्रित मंथन का पूरा विशेषांक-1 पढ़ गया। मैं इतना समृद्ध विशेषांक निकालने के लिए आपको और आपके साथियों को धन्यवाद देता हूँ। यह न केवल ज्ञान अपितु इस क्षेत्र विशेष में हिंदू सभ्यता का गौरवशाली दृश्य भी उपस्थित करता है।

सादर

सुनील रैना राजनका
संपादक
नाद

संपादकीय

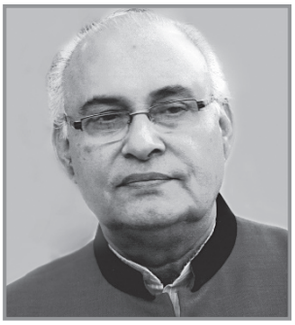

डॉ. महेश चन्द्र शर्मा

गंधार विशेषांक भाग दो का संपादन एक सुखद अनुभव था। प्रथम भाग के अधिकतर लेखक, एक को छोड़कर सभी आज के भारत में विद्यमान हैं। इस अंक की विशेषता है कि इसके लेखक आज के अफगानिस्तान (जो कि प्राचीन गंधार है) से जुड़े हैं। या तो वे अफगानी हैं या अपने अनुसंधान एवं अध्ययन के संदर्भ में अफगानिस्तान से जुड़े हैं। इसके लिए मैं अपने अतिथि सम्पादक प्रो. मजहर आसिफ के प्रति बहुत-बहुत आभारी हूँ।

लेखकों से विमर्श करते हुए, उनकी गंधार स्मृति को पुनः पुनः जगाने का प्रयत्न किया गया है, लेकिन इसकी बहुत सीमाएं हैं। हिंदुस्तान एवं अफगानिस्तान का द्वैत दिमागों पर इतना छाया है कि भारत के साथ गंधार की अंगभूत एकात्मता की स्मृति को अकादमिक स्वर देना आसान नहीं है। संपादन की प्रक्रिया से इसे किंचित संवारने का प्रयत्न किया है, लेकिन वह बहुत ही आधा-अधूरा है। सत्य, जो आज विकृत अवस्था में हमें उपलब्ध है, उसे विशुद्ध रूप में प्रस्तुत करना कठिन है।

पाश्चात्य 'राष्ट्र-राज्य' की अवधारणा ने हमारे भू-सांस्कृतिक राष्ट्रत्व को विकृत एवं विखंडित कर दिया है। मतांतरणवादी माजहबिकता ने हमारे मानस को इतना ग्रसित कर लिया है कि अपनी मूल पहचान से हम बेगाने हो गए हैं। इस पहचान के लिए जो रक्तिम संघर्ष हुआ, अगणित बलिदान हुए, वे हमारी स्मृति से धुल गए हैं। स्मृति शेष अस्तित्व को पुनर्जागृत करने की प्रक्रिया दुरूह एवं लंबी है। इस लंबी यात्रा की ओर कदम बढ़ाने का लघु प्रयत्न है 'मंथन' के ये दो विशेषांक।

भारत एक दार्शनिक अस्मिता का अखंड प्रवाह है। इतिहास के बीहड़ों में यह निरंतर बहता रहा है। इसकी तरलता विविध रंगों को अपने में समेट लेती है। यह दार्शनिक एवं आध्यात्मिक धारा अद्वैतवादी, द्वैतवादी, वशिष्टाद्वैतवादी व शैव, शाक्त, वैष्णव, बौद्ध, जैन, सनातनी, गुरु गोरखपंथी, गुरुनानक पंथी एवं पैगंबर मोहम्मद पंथी आदि कितने ही रंगों को अपने में समेटे हुए है। 'सत्य एकम् विप्राः बहुधा वदंति' के वैदिक न्याय को भारत अनंतकाल से जी रहा है।

सेमेटिक माजहबिकता एवं पाश्चात्य साम्राज्यवादी राष्ट्र बोध ने इस अजस्र सांस्कृतिक राष्ट्र-प्रवाह को बाधित किया है। तभी तो भारत खंड के अनेक प्रदेश आज अपने स्वत्व को भूले है। बहुत लोग हैं जो अंग्रेजों द्वारा काट कर दिए गए भूखंड को ही भारत समझते हैं। विस्मृति के गहरे गर्त में डूबे भारत-बोध को पुनः पुनः रेखांकित करने की आवश्यकता है। अकादमिक जगत् को ही इस महती कार्य को करना है। अतः एक अकादमिक उपक्रम के नाते 'मंथन' यह कार्य कर रहा है। आपका सहकार अपेक्षित है।

गंधार विशेषांक प्रथम भाग का उत्साही स्वागत हुआ, आभारी हूँ। आशा करता हूँ यह अंक भी आपको अच्छा लगेगा। हमारा अगला अंक 'त्रिविष्टप विशेषांक' होगा। शुभम्।

डॉ. महेश चन्द्र शर्मा
mahesh.chandra.sharma@live.com

प्रो. मजहर आसिफ

अतिथि संपादक की ओर से

अभी की तो बात है अफगानी और हिंदू दोनों एक ही तो थे। हमारी भाषा, हमारी संस्कृति, हमारी परंपरा और हमारा धर्म सब कुछ एक ही तो था। प्राचीन काल में हम अपने उस भूभाग को आर्याना, आर्यानुम्र वीजू, पख्तिया, पश्तूनख्वाह इत्यादि नामों से जानते थे। अगर हम पहलवी और संस्कृत भाषा में लिखित पुराने ग्रंथों का अध्ययन करें तो हमें मालूम होगा कि हमारे बीच वर्तमान की तरह कोई भौगोलिक सीमा नहीं थी। प्राचीन में हमारी सीमा गंधार प्रदेश से लेकर ब्रह्मदेश (आज का म्यांमार) तक फैली हुई थी। जरथ्रुष्ट्र द्वारा रचित ग्रंथ 'जिंदावेस्ता' में इस भूखंड को ऐरीन-वीजो कहा गया है। महाभारत तथा अन्य ग्रंथों में इस क्षेत्र को गंधार, कम्बोज, कुंभा, आदि नामों से याद किया गया है। चाहे धृतराष्ट्र की पत्नी गांधारी हों या श्रीराम की माताश्री कैकेयी या फिर महान भाषाविद पाणिनि या हमारा सबसे पुराना विश्वविद्यालय तक्षशिला हो, सब के सब प्राचीन गंधार में ही तो थे। गंधार का विस्तार आज के पाकिस्तान या अफगानिस्तान में है। पारसी धर्म के संस्थापक और महान दार्शनिक जुरथुष्ट्र भी यहीं के रहने वाले थे। गंधार प्रदेश हमेशा से हमारी ज्ञान परंपरा और सनातन चिंतन का केंद्र रहा है। मौर्यकाल में बौद्ध धर्म का इस क्षेत्र में खूब प्रचार-प्रसार हुआ। प्रारंभिक बौद्ध संप्रदायों में से एक महासांघिक-लोकोत्तरवाद बामियान में ही स्थापित था। बलख में स्थित प्रसिद्ध बौद्धमठ, जिसे नव विहार के रूप में जाना जाता है सदियों से मध्य एशिया बौद्धशिक्षा के केंद्र के रूप में कार्य करता रहा।

हजारों साल से अफगानी और हिंदू सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से एक दूसरे से इस कदर जुड़े हुए हैं कि आज की राजनीति भी उस निकटता की गाँठ को खोलने में असमर्थ साबित हुई है और इंशाल्लाह रहेगी। युगों युगों से हमेशा संस्कृति और रेलिजन के बीच संघर्ष चला आ रहा है। मगर इतिहास गवाह है कि जीत हमेशा संस्कृति की हुई है। इस्लाम ने ईरान, इंडोनेशिया, मलेशिया, अरब जैसे कई देशों को फतह तो कर लिया मगर वहां की संस्कृति और परंपरा को खत्म करने में पूरी तरह से नाकाम रहा। इसी तरह अखंड भारत में भी दीने- इस्लाम का खूब प्रचार-प्रसार हुआ मगर हमारी विरासत और संस्कृति आज भी पूरी शानो-शौकत के साथ बाकी है और हमें अपने आपको हिंदू-मुसलमान लिखने पर गर्व का अनुभव होता है। आज भले ही हमारे बीच मानव रचित सरहद है, मगर हम सांस्कृतिक रूप से एक थे है और इंशाल्लाह रहेंगे।

गंधार विशेषांक-२ आपके हाथों में है। इस अंक में हमने गंधार के उसी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पक्ष पर अपना ध्यान केंद्रित किया है, जिसकी एक झलक आप गंधार विषयक पहले अंक में पा चुके हैं। पहले अंक में खुद अपनी सीमाओं के कारण इसके कुछ पक्ष हम नहीं छू सके थे। यह अंक उसकी पूर्ति कर रहा है। डॉ. मोहम्मद मजहरुल हक का लेख 'बौद्ध काल में गंधार' उस समय भारत के शेष भूगाग से इस भूभाग के कैसे संबंध थे और अपने आसपास के दूसरे देशों से आर्थिक-सामरिक संदर्भों में क्या स्थिति थी, इसे स्पष्ट करता है। साथ ही, वहाँ बौद्ध धर्म के प्रसार का इतिहास भी प्रस्तुत करता है। प्रो. अलाउद्दीन शाह का लेख 'पूर्व-इस्लामी युग में गंधार : फिरदौसी के शाहनामा के संदर्भ में' उस पूरे परिक्षेत्र के इतिहास को एक समुच्चय के रूप में उठाता है। पश्चिमोत्तर सीमांत पर इस्लाम का आना और उसके पहले की भारतभूमि की स्थिति, इस पूरी पृष्ठभूमि को ऐतिहासिक घटनाक्रम के रूप में हमारे सीमांत के सबसे निकट बैठे एक कवि अबुल कासिम फिरदौसी तुसी किस तरह देख रहे थे, यह जानना

बहुत महत्वपूर्ण होगा। फिरदौसी मूलत: एक कवि हैं और शाहनामा एक काव्यकृति। लेकिन यह कृति शाहों यानी राजाओं के बारे में है। यह उनसे बहुत पहले से लेकर उनके समय तक के उपलब्ध इतिहास को उद्घाटित करती है। भारत से उनके राज्य के संबंधों को खोलती है। भारत में उनका सबसे सघन परिचय जिस राज्य से था, वह गंधार ही था। एक कवि के नजरिये से इतिहास और उसमें अपनी संस्कृति को देखना एक अलग ही अनुभव होता है। वह अनुभव आपको इस लेख में मिलेगा।

जाहिर है, इस्लाम के आगमन से पहले गंधार में भारतीय ही थे। यही वह जगह है जहाँ हमारी वैदिक संस्कृति फली-फूली। इसके अवशेष आज भी उस पूरे परिक्षेत्र में विद्यमान हैं। उन अवशेषों और पहचानों के माध्यम से वहाँ हिंदुत्व के प्रभाव का विश्लेषण है डॉ. अरिहंत कुमार वर्धन के लेख 'गंधार में हिंदुत्व' में। हिंदू धर्म के अंतर्गत ही बहुत प्रभावी पंथ रहा है नाथ पंथ। माना जाता है कि गुरु गोरखनाथ का जन्म इसी गंधार क्षेत्र के पेशावर के निकटवर्ती एक ग्राम में हुआ था। गोरख के उपदेशों, मठों और जोगियों के रूप में वह प्रभाव पूरे गंधार और आसपास के क्षेत्रों में आज भी देखा जा सकता है। ऐतिहासिक संदर्भों के साथ उस प्रभाव और विस्तार का विश्लेषण है इष्ट देव सांकृत्यायन के लेख 'गंधार में गोरखनाथ के शिष्य' में।

यह तो आप जानते ही हैं कि संस्कृत को आज का स्वरूप देने वाले पाणिनि गंधार के ही थे। वह जिस क्षेत्र से थे, उसकी आज की लोकभाषा पश्तो है। इन दोनों भाषाओं की समानताओं का विश्लेषण है प्रो. मोहम्मद अनवर खैरी के लेख 'पश्तो भाषा की बोलियों और संस्कृत के प्राचीन स्वनिक संबंध' में। संगीत की बात करें तो गंधर्वों की चर्चा न हो, ऐसा हो ही नहीं सकता। सामान्यत: 'गंधर्व' गंधार से ही बना माना जाता है। संगीत में गांधार एक राग भी है और उपवेदों में एक है गंधर्व वेद। इन सबका गंधार क्षेत्र से क्या संबंध है, इसकी संभावनाओं को अपने लेख 'भारतीय संगीत में गांधार एवं गंधर्व' में टटोलने की कोशिश की है प्रो. मधु शुक्ला ने। भारतीय समाज में विवाह की जो पद्धतियां प्रचलित हैं, उनमें भी एक है गंधर्व विवाह। गंधार से इसका क्या संबंध है, यह आप जान सकते हैं सोनाली मिश्रा के लेख 'गंधर्व विवाह की भूमि पर प्रेम'। तक्षशिला केवल गंधार ही नहीं, पूरे भारत का गौरव रहा है। विश्वविद्यालय पर एक शोधपरक लेख है डॉ. शहबाज आमिल का और एक सांस्कृतिक केंद्र के रूप मं उसके अनछुए पहलुओं को उजागर किया है अपने लेख में प्रो. इश्तियाक अहमद ने। पिछले अंक को लेकर कुछ सुधी पाठकों की प्रतिक्रियाएं मिलीं। अच्छा लगा। आभार। इस अंक पर भी आपकी प्रतिक्रियाओं की प्रतीक्षा रहेगी। 'मंथन' ने मुझे अतिथि संपादन का गौरव प्रदान किया, आभारी हूँ।

प्रो. मजहर आसिफ

डॉ. मो. मजहरुल हक

बौद्धकाल में गंधार

बौद्ध धर्म प्रमुखत: जिन जगहों पर फला-फूला उनमें गंधार एक है। यही वह जगह है जहाँ यूनानी कला से संपर्क के प्रभाव स्वरूप प्रतिमाओं में भगवान बुद्ध को एक पूर्ण स्वरूप मिला और एक नई शाखा के रूप में सर्वास्तिवाद पल्लवित हुआ। सांस्कृतिक विकास के इस काल पर शेष भारत से गंधार के संबंधों पर एक दृष्टि

प्राचीन गंधार जो आज मुख्यत: अफगानिस्तान है, का महत्त्व तब बहुत ज्यादा बढ़ जाता है, जब हम उसकी भौगोलिक स्थिति पर गौर करते हैं। इस भू-भाग का महत्त्व केवल मौजूदा समय में ही नहीं बल्कि प्राचीनकाल में भी काफी था। तत्कालीन शक्तिशाली राजाओं की निगाहें इस भू-भाग पर टिकी रहा करती थीं। सभ्यताओं के संक्रमण का केंद्र भी अफगनिस्तान ही रहा है। इसके उत्तरी सरहद वक्षु (ऑक्सस) नदी के उस पार ही सभ्यता का विकास हुआ और यहीं से भारत, ईरान और दूसरे देशों की ओर इसका विस्तार हुआ।

यहीं से विश्व प्रसिद्ध सिल्क रोड गुजरता है जो पश्चिम एशिया, मध्य एशिया और यूरोप में व्यापार का एकमात्र रास्ता था। बाद के दिनों में यूनानी, चंगेजी, तुर्क, गजनवी, गौरी और मुगल यहीं से भारत आए, और आज भी विश्व के शक्तिशाली देशों की नजरें अफगानिस्तान पर टिकी हुई हैं, और चाहती हैं कि संयुक्त राष्ट्र की मदद से अफगानिस्तान पर अपना बर्चस्व बनाए रखें।

गौतम बुद्ध का जन्म लुंबिनी में आज से लगभग 2600 साल पूर्व 563 ई.पू. में हुआ था। बौद्ध धर्म इनकी ही शिक्षाओं पर आधारित है।[1] जिस समय वह बौद्ध धर्म की शिक्षाओं का प्रचार कर रहे थे उसी समय गंधार पर यूनानी हखामनी वंश के चौथे प्रसिद्ध शासक सम्राट दारा प्रथम या डेरियस प्रथम शासन कर रहा था जो इतिहास में अपने शिलालेखों के लिए जाना जाता है,[2] जिसका प्रभाव बाद में सम्राट अशोक के शिलालेखों में भी दिखाई देता है। इन हखामनी शिलालेखों में हिंदुस्तान का नाम मिलता है और तख़्त-ए-जम्शीद की दीवारों पर बने चित्रों में नौरोज के अवसर पर हिंदुस्तान से आए दूतों की ओर से उपहार भेंट करते हुए दिखाया गया है।

सम्राट दारा अपने राज्य को पूरे हिंदुस्तान तक फैलाना चाहता था और 516 ईसा पूर्व में सिंध प्रांत को और पश्चिमी पंजाब को जो सिंधु नदी के पश्चिमी तट से लगता था अपने राज्य का हिस्सा मानता था। इतिहासकार इस युग को "जरतुश्ती युग" का नाम देते हैं। यह कब्जे वाला क्षेत्र जो काफी उपजाऊ, समृध्द और अधिक जनसंख्या वाला था इरान का बीसवाँ प्रांत माना जाता था। यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस हिंदुस्तान का उल्लेख करते हुए हिंदुस्तान की तरफ से सम्राट दारा को सालाना लगान दिए जाने का जिक्र करता है कि "हिंदुस्तान की तरफ से जो सालाना लगान 600 किन्तार यानी 720,000 सुवर्ण दीनार दिया जाता था, वह ईरान के सभी प्रांतों से अधिक था"।[3]

ईरानी सेना में हिंदी सिपाही भी शामिल थे। हेरोडोटस ने सम्राट दारा की सेना में एक भारतीय सिपाही के नाम का जिक्र किया है जो प्यादा सेना मे शामिल था, फिर भारतीय लड़ाकू हाथियों का भी नाम लिया है।[4]

बौद्ध धर्म के हीनयान संप्रदाय के लोग व्यापार के उन रास्तों पर आबाद थे जोमध्य एशिया को जाता था। गंधार और बाख्तर इस क्षेत्र के दो अहम राज्य थे। गंधार का क्षेत्र पूरब में खैबर पास के दोनों ओर पाकिस्तान के पंजाब होते हुए सिंधु नदी तक और पश्चिम में खैबर पास से ले कर काबुल घाटी होते हुए हिंदुकुश (पग्मान श्रृंखला) तक,दक्षिण में पख्तिया और जाबुल तक और उत्तर में पंचशीर तक फ़ैला हुआ था।[5] इसी तरह बाख्तर का क्षेत्र काबुल घटी से लेकर उत्तर में उज़बेकिस्तान और ताजिकिस्तान तक था।

सम्राट दारा के शिलालेखों में गंधार का जिक्र हुआ है। सम्राट दारा को काबुल पर कब्जा करने में काफी परिश्रम करना पड़ा और वहाँ के स्थानीय लोगों की ओर से कड़े विरोध का सामना करना

पड़ा।... हखामनी राजाओं ने गंधार और बाख्तर पर तीन सौ साल तक शासन किया, लेकिन सम्राट दारा के बाद गंधार और बाख्तर पर उनका कब्जा समाप्त हो गया।[6]

गौतम बुद्ध की जीवनी के अनुसार, जो बौद्ध धर्म के हीनयान ग्रंथ जैसे सर्वास्तिवाद में आया है, तापसू और बालिक, बाख्तर के दो व्यापारी भाई, बुद्ध के पहले शिष्य थे जिन्होंने लोगों के बीच अनुशासन का पालन करने की जिम्मेवारी ली, आठ सप्ताह के बाद शाक्य मुनि को आत्मज्ञान प्राप्त हुआ। यह 537 ईसा पूर्व का साल था, बाद में बालिक भिक्षु बन गया और अपने नगर बल्ख के निकट, आज के मजार-ए-शरीफ के पास, एक मठ का निर्माण करवाया और गौतम बुद्ध के सिर के आठ केश यादगार के लिए अपने साथ लाया था जिसकी सुरक्षा के लिए एक गुंबद बनवाया। उस समय बाख्तर हखामनी साम्राज्य का एक अंग था।[7]

गौतम बुद्ध के निर्वाण के मात्र 100 वर्ष बाद ही बौद्धों में मतभेद उभरकर सामने आने लगे थे। वैशाली में संपन्न द्वितीय बौद्ध संगीति में थेर भिक्षुओं ने मतभेद रखने वाले भिक्षुओं को संघ से बाहर निकाल दिया। अलग हुए इन भिक्षुओं ने उसी समय अपना अलग संघ बनाकर स्वयं को 'महासांघिक' और जिन्होंने निकाला था उन्हें 'हीन सांघिक' नाम दिया जिसने बाद में महायान और हीनयान अर्थात थेरवाद का रूप धारण कर किया।[8]

बहुत सारे महासांघिक समर्थक गौतम बुद्ध की खोपड़ी यादगार के लिए अपने साथ लाए थे, वे गंधार पहुंचे, और अफगानिस्तान में आज के जलालाबद के निकट हड्डा में नगर विहार के नाम से एक बौद्ध मठ का निर्माण करवाया। इसके कुछ ही समय बाद, थेर भिक्षुओं में से एक ने जिसका नाम संभुता सनवासी था अपना समर्थक ढूंढ निकाला और कोशिश की कि कपिशा में अपने संप्रदाय की नींव रखे, लेकिन इसमें वह असफल रहा, और महासांघिक अफगानिस्तान में बौद्ध धर्म के असली संप्रदाय के रूप में बाकी रहा।[9] इन्हीं महासांघिक समर्थकों ने बामियान में विशाल बुद्ध प्रतिमा का निर्माण किया जिसका उल्लेख बाद में किया जाएगा।

सम्राट दारा के उत्तराधिकारी कइखुसरो ने सिकंदर से लंबी लडाई लडने के लिए एक विशाल सेना बनाई थी, जिसमें भारतीय सैनिक भी शामिल थे। लेकिन 330 ईसा पूर्व में सिकंदर ने बाख्तर और गंधार के साथ-साथ हखामनी साम्राज्य के बहुत बडे हिस्से पर कब्जा कर लिया। धार्मिक रीति-रिवाज में उसका कोई हस्तक्षेप नहीं था, बल्कि वह धार्मिक प्रथाओं की कदर करता था। वह हर चीज से अधिक आक्रमण और सैन्य कब्जा करने में दिलचस्पी रखता था। उसके उत्तराधिकारियों ने सेल्युकसी राजवंश की नींव रखी। लेकिन अभी ज्यादा समय भी नहीं गुजरा था कि भारतीय मौर्य राजवंश ने 317 ईसा पूर्व में गंधार को सेल्युकसी राज्य से आजाद करा लिया, लेकिन बाख्तर अभी भी उनके अधीन रहा। इस तरह यूनानियों का असर इस क्षेत्र में बहुत कम रह गया था।[10]

सम्राट अशोक (268 ईसा पूर्व से 232 ईसा पूर्व) विश्वप्रसिद्ध एवं शक्तिशाली भारतीय मौर्य राजवंश के महान सम्राट थे। वह सम्राट बिंदुसार के पुत्र और चंद्रगुप्त मौर्य के पौत्र थे। सम्राट अशोक का पूरा नाम देवानांप्रिय अशोक मौर्य और दूसरा नाम प्रियदर्शी (देवताओं का प्रिय) था। उनके बहुत से शिलालेखों में जिसमें से कुछ अफगानिस्तान में पाए गए हैं इसी प्रियदर्शी नाम का उल्लेख किया गया है।[11]

अपने राजपाट संभालने के 10 वर्ष बाद कलिंग युद्ध में हुई क्षति तथा नरसंहार से सम्राट अशोक का मन युद्ध से ऊब गया और वह अपने काम को लेकर व्यथित हो उठा। इसी शोक से उबरने के लिए वह बुद्ध के उपदेशों के करीब आता गया और अंत में उसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। बौद्ध धर्म स्वीकारने के बाद उसे अपने जीवन में उतारने का प्रयास करने के साथ साथ, उसने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए धर्म प्रचारकों को विश्व के और देशों के साथ साथ गंधार यानी अफगानिस्तान भी भेजा। उनमें से एक धर्म प्रचारक का नाम महाराखिता है, जिस के अंतर्गत धर्म प्रचारकों का एक प्रतिनिधिमंडल गंधार भेजा। इस शिष्टमंडल ने दक्षिणी गंधार में एक अशोक स्तंभ खड़ा किया, जिस पर बौद्ध धर्म के आदेश खुदवाए गए थे। इन प्रतिनिधि मंडलों के माध्यम से, थेरवाद ने अफगानिस्तान में अपनी उपस्थिति दर्ज कराई।[12]

सम्राट अशोक के राज्य के आखिरी समय में तृतीय संगीति के बाद से भारत में सर्वास्तिवाद, थेरवाद से अलग हो गया। सम्राट अशोक के मृत्यु के पश्चात, उनका पुत्र जलोक ने सर्वास्तिवाद को न केवल कश्मीर तक पहुंचाया बल्कि प्रचार-प्रसार भी किया।

239 ईसा पूर्व में,बाख्तर के यूनानी स्थानीय आभिजात्य वर्ग ने सैल्यूकी शासन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। और आजादी हासिल कर ली। बाद के वर्षों में उन्होंने सोगदा और कश्मीर को सैल्यूकीयों के

ईरान के पर्सेपोलिस में दारा प्रथम का अपादान सभागार
साभार: https://www.britannica.com/place/Persepolis

चंगुल से छुडा लिया, और यूनानी-बाख्तर साम्राज्य की बुनियाद रखी। कश्मीरी भिक्षुओं ने सर्वास्तिवाद सांप्रदाय को बाख्तर में शीघ्र ही फैला दिया।

197 ईसा पूर्व में, यूनानी-बाख्तरियों ने गंधार को मौर्यवंश से अपने कब्जे में ले लिया, जहाँ अशोक और उनकी संतानों द्वारा थेरवाद का प्रचलन था, अब धीरे धीरे सर्वास्तिवाद संप्रदाय दक्षिणी अफगानिस्तान पहुंचा, और फलस्वरूप यूनानी संस्कृति ने हिंदुस्तानी संस्कृति पर अपना प्रभाव डालना प्रारंभ कर दिया। यूनानी संस्कृति ने बौद्ध कला, खास तौर पर मानव रूप को जिस्म देने, मूर्ति बनाने और बनाव-सिंगार पर काफी गहरा प्रभाव डाला।

अफगानिस्तान में बौद्ध धर्म दो चरणों में पूरे जोर शोर से फैला। पहला चरण सम्राट अशोक के शासनकाल में जब गंधार भारतीय मौर्यों के अधीन था। और दूसरा चरण अफगानिस्तान में बौद्धिक शिक्षा प्रचार और कला पुनर्जागरण महान कुषाण साम्राज्य के काल में अर्थात सम्राट कनिष्क के शासन में बहुत जोरों पर था।

सम्राट अशोक ने बौद्धधर्म के प्रचार प्रसार के लिए प्रचारकों को नियुक्त किया, फरमान जारी किए, धार्मिक नेताओं से उनकी क्षमता और योग्यतानुसार बौद्ध धर्म के प्रचार में सेवाएं लीं। पुनर्जागरण के समय में बौद्ध शिक्षा के प्रसार का एक दौर फिर आया जब सम्राट कनिष्क ने न केवल इस धर्म का समर्थन और प्रचार किया, बल्कि धार्मिक और कलात्मक शिक्षा के सभी मामलों में जैसे: मूर्तिकला, वास्तुकला, शहरीकरण, सिक्के ढालना (धातु के, सोने के, चाँदी के), पूजाघर निर्माण, धार्मिक मठ का निर्माण, शिलालेख आदि को उत्कर्ष तक पहुँचाने में सहयोग और पूरी सहायता प्रदान की।[13]

सम्राट कनिष्क, द्वितीय शताब्दी (127-150 ई.) में कुषाण राजवंश का भारत का एक महान् सम्राट था। वह अपने सैन्य, राजनैतिक एवं आध्यात्मिक उपलब्धियों तथा कौशल हेतु प्रख्यात था। इस सम्राट को भारतीय इतिहास एवं मध्य एशिया के इतिहास में अपनी विजय, धार्मिक प्रवृत्ति, साहित्य तथा कला का प्रेमी होने के नाते विशेष स्थान मिलता है।

सम्राट कनिष्क की दो राजधानियाँ थीं:1. ग्रीष्मकालीन राजधानी:कपिशा, काबुल से 35 कि. मी. उत्तर में (मौजूदा समय के बग्राम क्षेत्र में), 2. शीतकालीन राजधानी: पुरुषपुर, (आज का पेशावर)।

अफगानिस्तान में बौद्ध धर्म दो चरणों में पूरे जोर शोर से फैला। पहला चरण सम्राट अशोक के शासनकाल में जब गंधार भारतीय मौर्यों के अधीन था। और दूसरा चरण अफगानिस्तान में बौद्धिक शिक्षा प्रचार और कला पुनर्जागरण महान कुषाण साम्राज्य के काल में अर्थात सम्राट कनिष्क के शासन में बहुत जोरों पर था

सम्राट कनिष्क बौद्ध धर्म में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठित है, क्योंकि वह न केवल बौद्ध धर्म में विश्वास रखता था बल्कि उसकी शिक्षाओं के प्रचार एवं प्रसार को भी बहुत प्रोत्साहन देता था। इसका उदाहरण है कि उसने कश्मीर में चतुर्थ बौद्ध संगीति का आयोजन करवाया था, जिसकी अध्यक्षता वसुमित्र एवं अश्वघोष द्वारा की गई थी। इसी परिषद में बौद्ध धर्म दो मतों में विभाजित हो गया - हीनयान एवं महायान। इसी समय बुद्ध का २२ भौतिक चिह्नों वाला चित्र भी बनाया गया था।

कनिष्क का बौद्ध स्थापत्य कला का सबसे बड़ा योगदान पेशावर का बौद्ध स्तूप था। जिन पुरातत्ववेत्ताओं ने इसके आधार को 1908-1909 में खोजा, उन्होंने बताया कि इस स्तूप का व्यास 286 फीट (87 मी.) था। चीनी तीर्थयात्री जुआनजांग ने लिखा है कि इस स्तूप की ऊंचाई 600 से 700 (चीनी) "फीट" (लगभग 180-210 मी या 591-689 फीट) थी तथा ये बहुमूल्य रत्नों से जड़ा हुआ था। निश्चित रूप से ये विशाल अत्यंत सुंदर इमारत प्राचीन काल के आश्चर्यों में रही होगी।[14]

कनिष्क ने इसके अतिरिक्त इसी पेशावर में एक 150 फीट लंबी अत्यंत सुंदर मूर्ति का भी निर्माण किया था, जो अतुल्य और अद्‌भुत माना जाता था, लेकिन कपिसा बौद्ध मंदिरों और मुर्तियों का केंद्रबिंदु था। कनिष्क के समय में प्रथम या द्वितीय शताब्दी में चतुर्थ बौद्ध संगीति में सर्वास्तिवाद के त्रिपिटक का निर्धारण हुआ।

सम्राट कनिष्क सर्वास्तिवाद संप्रदाय का संरक्षक था। इसी सर्वास्तिवाद के धार्मिक संप्रदायों में से एक भाषिक नाम से तखारिस्तान में विख्यात था। घोषक, तखारी भिक्षु, अभिधर्म के बारे में वैभाषिक टिप्पणियों का संग्रहकर्ता था। चतुर्थ बौद्ध संगीति में जिसे कनिष्क द्वारा आयोजित किया गया था, उन्हें स्वीकृति प्रदान की गई। जब घोषक चतुर्थ बौद्ध संगीति के बाद तोखारिस्तान लौटा तो उसने पश्चिमी संप्रदाय भाषिक (बाल्हिक) की बुनियाद रखी। थोड़े समय के बाद बल्ख का असलीबौद्ध मठ पूरे मध्य एशिया में नवविहार के नाम से बौद्ध उच्च अध्ययन केंद्र में बदल गया। यह केंद्र शिक्षा संस्थान के लिहाज से पटना के नालंदा विश्वविद्यालय के स्तर का था। इस नवविहार में वैभाषिक अभिधर्म के अध्ययन पर बल दिया जाता था, और उन्हीं भिक्षुओं को स्वीकार किया जाता था जो इससे पहले इस विषय पर कुछ न कुछ लिख चुके हों। क्योंकि गौतम बुद्ध के दांतों को एक पवित्र यादगार के रूप में संरक्षित किया गया था, इसीलिए चीन से भारत तक सिल्क रोड पर यह स्थल तीर्थस्थलों में से एक था।[15]

लगभग 600 साल ई. पूर्व., बल्ख में जरथुश्त का जन्म हुआ। यह पवित्र नगर पारसी धर्म का स्थान था। पारसी धर्म, जो अग्नि पूजा पर जोर देता है, इस शहर में लोकप्रिय हो गया। कनिष्क ने भी इसी प्रकार यूनानी-बाख्तरी धार्मिक सहिष्णुता की नीति अपनाई। इसी प्रकार बल्ख में बौद्ध धर्म और पारसी धर्म शांतिपूर्ण सहअस्तित्व में बने रहे और एक दूसरे की प्रगति को प्रभावित किया। उदाहरण के लिए, उस समय के दौरान, गुफाओं में बने मठों को आग की लपटों और बौद्ध धर्म के चित्रों से सजाया गया था। और उन्हें "बूदा-माजदा" कहा जाता था। वस्तुत: यह "बौद्ध"और जरथुस्तियों के सर्वोच्च ईश्वर "अहुरा मज्‌दा" का संयोजन है।[16]

तीसरी शताब्दी ईसापूर्व के मध्य में, भारत में अशोक काल के दौरान, बौद्ध धर्म पूरी तरह अफगानिस्तान में आया, इस प्रकार यूनानी यथार्थवाद और अतियथार्थवाद के विचार को भारतीय रहस्यवाद से मिलाकर

एक नई कलाशैली अस्तित्व में आई जिसे अब गांधार कला के रूप में जाना जाता है। इस गांधार काला का केंद्र बिंदु हड्डा (आधुनिक जलालाबाद से छह मील दक्षिण में) है।[17]

गांधार कला वास्तव में यूनानी संस्कृति और भारतीय या बौद्धिक संस्कृति का मिश्रण है। इस कला की विशेषताओं में से एक मूर्ति कला भी है,[18] जिसे सम्राट कनिष्क ने बहुत हद तक प्रोत्साहन दिया। इसी गंधार कला की छाप बामियान की मूर्तियों में देखने को मिलता है।

वर्ष 226 ई. में पारसी सासानी साम्राज्य ने अफगानिस्तान में कुषाणों के शासन को समाप्त कर दिया। सासानी शासकों ने पारसी धर्म के प्रबल समर्थक होने बावजूद बौद्धों को अधिक मठ बनाने की अनुमति दी। उनके शासन के दौरान, लोकोत्तरवाद के अनुयायियों ने बामियान में दो बड़ी बौद्ध मूर्तियों का निर्माण किया।[19]

एक प्रसिद्ध चीनी बौद्ध भिक्षु "ह्वेन सांग" जिन्होंने सातवीं शताब्दी ईस्वी में गंधार का भ्रमण किया था, बामियान की छोटी मूर्ति के संदर्भ में बताते हैं कि पूरे बामियान में कई बड़े बौद्ध मंदिर थे और बामियान की छोटी मूर्ति (35 मीटर वाली मूर्ति) प्राचीन अफगानिस्तान में बौद्धों का एक तीर्थ स्थान था। बामियान घाटी उस समय बौद्ध संस्कृति का एक प्रमुख केंद्र था, जिसकी तुलना श्रीलंका और इसके दक्षिणी राज्यों के प्रमुख बौद्ध केंद्रों से की जा सकती थी।[20]

बामियान भारत से बल्ख की ओर जाने वाले मार्ग पर स्थित था, जहां से उस समय दवाइयाँ, मसाले, गहने, हाथी दांत, कपास और कच्चे माल का व्यापार होता था। इसी प्रकार बामियान सिल्क रोड पर स्थित था जो मध्य पूर्व को चीनी साम्राज्य और अन्य पूर्वी एशियाई राज्यों से जोड़ता था। बामियान व्यापार केंद्र 13वीं शताब्दी के चंगेज खान के आक्रमण की शुरुआत तक गतिशील और सक्रिय रहा।

बामियान काबुल से 145 मील उत्तर में स्थित है, वहाँ से 110 मील की दूरी पर एक गहरी घाटी है जिसका नाम शिबर है जो सर्दियों में बर्फ से ढका रहता है। 19 मील आगे चलने के बाद, सड़क दो शाखाओं में विभाजित हो जाती है, दाई ओर मजार-ए-शरीफ को और बाई ओर बामियान को चली जाती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि बामियान शहर एक ग्रामीण क्षेत्र रहा है और बाद में विकसित हुआ। शहर की पहाड़ियों पर गुफाएँ दिखाई देती हैं, जो बौद्ध भिक्षुओं के लिए पूजा और ध्यान का स्थान रहा होगा। बामियान का ऐतिहासिक शहर 9,000 फुट ऊंची पहाड़ी पर स्थित हैं जो हिंदूकुश पर्वत में कोह ए बाबा के दामन में है, जो साल भर बर्फ से ढका हुआ होता है।

बामियान के एक छोटे से भाग पहाड़ी पर श्वेत हूण (बर्बर) द्वारा बसाया गया एक छोटा सा नगर शहर-ए-गलगला आज भी खंडित हालत में मौजूद है, जिसको देखने के बाद ऐसा मालूम होता है कि बौद्ध भिक्षुओं और धार्मिक पूजारियों ने अपने लिए गुफा बना रखी हो, जिसमें बैठ कर ज्ञान-ध्यान करते रहे होंगे।

बामियान में 53 और 35 मीटर उँची दो विशाल बौद्ध मूर्तियाँ पहाड़ी चट्टानों को तराश कर बनाई गई हैं। इन मूर्तियों को पर्वतीय क्षेत्र में इस प्रकार से बनाया गया है कि वे जलवायु परिवर्तन का सामना करते हुए इस क्षेत्र में हर प्रकार के नुकसान से सुरक्षित रह सकें। हर पैदल चलने वाले तीर्थयात्रियों के लिए प्रेरणा का स्रोत और धार्मिक उत्साह और गर्मजोशी का प्रतीक बने रहें।

बामियान तक पहुँचना इतना कठिन था कि हर किसी के बस की बात नहीं थी, परिवहन का कोई साधन नहीं था, और केवल खच्चर और खच्चर जैसे पशुधन का उपयोग किया जा सकता था ज्यादातर पशुओं को अनाज ढोने के लिए प्रयोग किया जाता था।

हुसनयांग ने 630 ईस्वी में इन मंदिरों और आश्चर्यजनक मूर्तियों और अन्य बौद्ध स्मारकों को देखा था, उसका कहना है कि "हर तरफ स्वर्णिम रेखाएं दिखाई देती है"।[21]

बामियान उस समय बौद्ध भिक्षुओं के लिए एक धार्मिक केंद्र के रुप मे प्रयोग होता था और कहा जाता है कि इसी बामियान से बौद्ध धर्म पूरे विश्व में फैला, चीन और जापान यहीं से गया।

बामियान के पहाड़ों, गांवों, नदियों, नालों, दीवार पर बने चित्रों और यहाँ की विशाल मूर्तियों को देखने के बाद इस इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि बामियान एक बौद्ध शैक्षिक केंद्र था और इस्लाम के अगमन तक इस क्षेत्र में बौद्ध धर्म का एक महत्वपूर्ण केंद्र था। इस क्षेत्र का विकास और विस्तार भी हुआ है।

प्रारंभिक इस्लामी इतिहासकार (तेरहवीं शताब्दी से पहले) एक स्वर्ण युग की बात करते हैं। याक्बी नामक एक इतिहासकार ने बुद्ध की मूर्तियों के आस-पास की गुफाओं को सुशोभित करने वाले चित्रों का विस्तार से वर्णन किया है। वह कहता है कि बामियान के निवासियों ने बौद्ध की विशाल मूर्ति को "लालमूर्ति" और छोटी मूर्ति को "खाकी मूर्ति" का नाम दिया है।

2006 ई में मुझे भी बामियान भ्रमण का अवसर मिला, जनवरी का महीना था चारों ओर बर्फ ही बर्फ था हिमपात इतनी जोर का हो रहा था कि ऐसा मालूम पड़ता था कि अब हिमपात रुकने वाला नहीं है। फिर भी हम लोगों ने कोशिश की और जब बौद्ध मूर्ति के निकट पहुँचने ही वाले थे कि हिमपात रुक गई। हम लोगों ने उस विशाल बौद्ध मूर्ति के खंड़हर को बहुत निकट से देखा जिसे तालिबान ने मार्च 2001 ई. में बारूद से उड़ा दिया था और कुछ जापानी इंजीनियर उस मुर्ति के पुनर्निर्माण में जुटे हुए थे।

तालिबान ने इस विशाल मुर्ति को क्यों तोड़ा इसका औचित्य नही मिलता, जबकि इस्लाम ने कभी किसी धार्मिक स्थल को तोड़ने या नुकसान पहुंचाने की अनुमति नहीं दी जिसका सबसे बड़ा उदाहरण मिस्र का पिरामिड और बामियान की यह विशाल बौद्ध

वर्ष 226 ई. में पारसी सासानी साम्राज्य ने अफगानिस्तान में कुषाणों के शासन को समाप्त कर दिया। सासानी शासकों ने पारसी धर्म के प्रबल समर्थक होने बावजूद बौद्धों को अधिक मठ बनाने की अनुमति दी। उनके शासन के दौरान, लोकोत्तरवाद के अनुयायियों ने बामियान में दो बड़ी बौद्ध मूर्तियों का निर्माण किया

मूर्ति है, जो 2001 ई तक अपने वजूद में बाकी थी। इसको तोड़ने या नष्ट करने के पीछे तालिबान के समक्ष जरूर कोई राजनीतिक कारण रहा होगा।

बामियान के अतिरिक्त अफगानिस्तान में और बहुत से बौद्ध धर्म के केंद्र रहे हैं जैसे 1. जलालाबाद के निकट बैद्ध स्थल "हड्डा" 2. "खरवार स्थल" जो गंधार और कराची के रास्ते में स्थित है। 3. काबुल के निकट "तंगी सईदान"। 4. "कंजकी बौद्ध मंदिर" काबुल से 25 कि. मी. की दूरी पर पगमान जिला में स्थित है। 5. काबुल के निकट "ख्वाजा सफा बौद्ध स्थल" 6. नारंज पहाड़ी पर बौद्ध मंदिर, जो आज कल कोह ए हश्मत पर स्थित है। 7. पोजा ए शुत्रुक का बौद्ध मंदिर जिस को "सरीका विहार" के नाम से जानते है, कापीसा में स्थित है। 8.मीनार ए चकरी, खाक ए जब्बार जनपद, काबुल प्रांत मे स्थित है। 9. नवविहारबौद्ध मंदिर, बल्ख। 10. शाहबहार बौद्ध मंदिर, गजना। इस के अतिरिक्त और बहुत से बौद्ध धर्म के स्थल अफगानिस्तन में मौजूद हैं जिस का जिक्र यहाँ मुनासिब नही समझा गया है। ■

संदर्भ संकेत

1. *https://en.wikipedia.org/wiki/Gautama_Buddha*
2. *https://en.wikipedia.org/wiki/Darius_the_Great*
3. *सरजमिन ए हिंद लेखक अली असगर हिक्मत, प. 41, कश्फ ए हिंद, लेखक जवाहरलाल नेहरु, अनुवादक, महमूद तफज्जुली, प 249*
4. *वही,कश्फ ए हिंद, प. 249*
5. *बर्रसी ए मआबिद ए बूदाई गंधारा, लेखक: जमालुद्दीन शिब्ली, काबुल पोहंतून, प. 3*
6. *वही. प. 4*
7. *History of Buddhism in Afghanistan p.1,https://studybuddhism.com/fa/mtala-at-py-shrfth/tary-kh-o-frhng/body-sm-dr-aasy-ay-mrkzy/tary-kh-body-sm-dr-afghanstan*
8. *http://hindi.webdunia.com/buddhism-religion/ Hinayan aur Mahayan-109041600053_1.htm*
9. *History of Buddhism in Afghanistan p.1,https://studybuddhism.com/fa/mtala-at-py-shrfth/tary-kh-o-frhng/body-sm-dr-aasy-ay-mrkzy/tary-kh-body-sm-dr-afghanstan*
10. *वही*
11. *बर्रसी ए मआबिद ए बूदाई गंधारा, लेखक: जमालुद्दीन शिब्ली, काबुल पोहंतून, प. 35*
12. *History of Buddhism in Afghanistan p.2,https://studybuddhism.com/fa/mtala-at-py-shrfth/tary-kh-o-frhng/body-sm-dr-aasy-ay-mrkzy/tary-kh-body-sm-dr-afghanstan*
13. *बर्रसी ए मआबिद ए बूदाई गंधारा, लेखक: जमालुद्दीन शिब्ली, काबुल पोहंतून, प. 9*
14. *कनिष्क- विकिपीडिया*
15. *History of Buddhism in Afghanistan pg.3,https://studybuddhism.com/fa/mtala-at-py-shrfth/tary-kh-o-frhng/body-sm-dr-aasy-ay-mrkzy/tary-kh-body-sm-dr-afghanstan*
16. *वही प. 3*
17. *Article: Buddhism in Afghanistan, translated by Yahya Husaini p.1,http://www.kabulnath.de/Schankar%20Dara/Minare%20Chakari/Jaja%20Hossaini/Budisimus%20in%20Afghanistan.html*
18. *बर्रसी ए मआबिद ए बूदाई गंधारा, लेखक: जमालुद्दीन शिब्ली, काबुल पोहंतून, प. 6*
19. *History of Buddhism in Afghanistan; pg3,https://studybuddhism.com/fa/mtala-at-py-shrfth/tary-kh-o-frhng/body-sm-dr-aasy-ay-mrkzy/tary-kh-body-sm-dr-afghanstan*
20. *Article: Buddhism in Afghanistan, translated by Yahya Husaini p.2,http://www.kabulnath.de/Schankar%20Dara/Minare%20Chakari/Jaja%20Hossaini/Budisimus%20in%20Afghanistan.html.*
21. *वही प. 3*

सुश्रुत के उपकरण

सुश्रुत संहिता में शल्य चिकित्सा के विभिन्न पहलुओं को विस्तार से समझाया गया है। शल्य क्रिया के लिए सुश्रुत 125 तरह के उपकरणों का प्रयोग करते थे। ये उपकरण शल्य क्रिया की जटिलता को देखते हुए खोजे गए थे। इन उपकरणों में विशेष प्रकार के चाकू, सुइयां, चिमटियां आदि हैं। सुश्रुत ने 300 प्रकार की ऑपरेशन प्रक्रियाओं की खोज की। सुश्रुत ने कॉस्मेटिक सर्जरी में विशेष निपुणता हासिल कर ली थी। सुश्रुत नेत्र शल्य चिकित्सा भी करते थे। सुश्रुत संहिता में मोतियाबिंद के ऑपरेशन करने की विधि को विस्तार से बताया गया है। उन्हें शल्य क्रिया द्वारा प्रसव कराने का भी ज्ञान था। सुश्रुत को टूटी हुई हड्डियों का पता लगाने और उनको जोडने में विशेषज्ञता प्राप्त थी। शल्य क्रिया के दौरान होने वाले दर्द को कम करने के लिए वे मद्यपान या विशेष औषधियां देते थे। मद्य संज्ञाहरण का कार्य करता था। इसलिए सुश्रुत को संज्ञाहरण का पितामह भी कहा जाता है। इसके अतिरिक्त सुश्रुत को मधुमेह व मोटापे के रोग की भी विशेष जानकारी थी। सुश्रुत श्रेष्ठ शल्य चिकित्सक होने के साथ-साथ श्रेष्ठ शिक्षक भी थे। उन्होंने अपने शिष्यों को शल्य चिकित्सा के सिद्धांत बताए और शल्यक्रिया का अभ्यास कराया। प्रारंभिक अवस्था में शल्य क्रिया के अभ्यास के लिए फलों, सब्जियों और मोम के पुतलों का उपयोग करते थे। मानव शारीर की अंदरूनी रचना को समझाने के लिए सुश्रुत शव के ऊपर शल्य क्रिया करके अपने शिष्यों को समझाते थे। सुश्रुत ने शल्य चिकित्सा में अद्भुत कौशल अर्जित किया तथा इसका ज्ञान अन्य लोगों को कराया। इन्होंने शल्य चिकित्सा के साथ-साथ आयुर्वेद के अन्य पक्षों जैसे शरीर सरंचना, काय चिकित्सा, बाल रोग, स्त्री रोग, मनोरोग आदि की जानकारी भी दी। ■

द्रुहु के वंशज थे गंधार नरेश

गांधारी गांधार देश के 'सुबल' नामक राजा की कन्या थीं। क्योंकि वह गांधार की राजकुमारी थीं, इसीलिए उनका नाम गांधारी पड़ा। यह हस्तिनापुर के महाराज धृतराष्ट्र की पत्नी और दुर्योधन आदि कौरवों की माता थीं। गांधार प्रदेश भारत के पौराणिक 16 महाजनपदों में से एक था।

गांधार महाजनपद के प्रमुख नगर थे- आज के पाकिस्तान का पश्चिमी तथा अफगानिस्तान का पूर्वी क्षेत्र उस काल में भारत का गंधार प्रदेश था। आधुनिक कंधार इस क्षेत्र से कुछ दक्षिण में स्थित था। अंगुत्तर निकाय के अनुसार बुद्ध तथा पूर्व-बुद्धकाल में गंधार उत्तरी भारत के सोलह जनपदों में परिगणित था। सिकंदर के भारत पर आक्रमण के समय गंधार में कई छोटी-छोटी रियासतें थीं, जैसे अभिसार, तक्षशिला आदि। मौर्य साम्राज्य में संपूर्ण गंधार देश सम्मिलित था।

बुद्ध की पूजा करते हुए इंद्र और ब्रह्मा
साभार : https://www.artic.edu/artworks/142512/buddha-worshipped-by-the-gods-indra-and-brahma

7वीं शती में जब मोहम्बद बिन कासिक का सिंध और बलूचिस्तान पर आक्रमण हुआ तब गंधार के अनेक भागों में बौद्ध धर्म काफी उन्नत स्थिति में था और यहां हिंदूशाही के राजा राज करते थे। 8वीं-9वीं सदी में मुस्लिम खलीफाओं के अभियानों के चलते धीरे-धीरे यह देश उन्हीं के राजनीतिक तथा धार्मिक प्रभाव में आ गया। 870 ई. में अरब सेनापति याकूब एलेस ने इसे अपने अधिकार में कर लिया।

पुरुषपुर (आधुनिक पेशावर) तथा तक्षशिला इसकी राजधानी थी। इसका अस्तित्व 600 ईसा पूर्व से 11वीं सदी तक रहा। कुषाण शासकों के दौरान यहां बौद्ध धर्म बहुत फला-फूला पर बाद में मुस्लिम आक्रमण के कारण इसका पतन हो गया।

ऋग्वेद में गंधार के निवासियों को गंधारी कहा गया है तथा उनकी भेड़ो के ऊन को सराहा गया है और अथर्ववेद में गंधारियों का मूजवतों के साथ उल्लेख है। वाल्मीकि रामायण के उत्तर कांड में गंधर्वदेश की भी स्थिति बताई गई है। कैकय जनपद इसके पूर्व की ओर स्थित था। कैकयनरेश युधाजित के कहने से रामचंद्र के भाई भरत ने गंधर्वदेश को जीतकर यहां की तक्षशिला एवं पुष्कलावती नामक नगरियों को बसाया था।

पुराणों (मत्स्य 48/6; वायु 99/9) में गंधार नरेशों को द्रुहु का वंशज बताया गया है। ययाति के पांच पुत्रों में से एक द्रुहु था। ययाति के प्रमुख 5 पुत्र थे- 1.पुरु, 2.यदु, 3.तुर्वस, 4.अनु और 5.द्रुहु। इन्हें वेदों में पंचनंद कहा गया है। 7200 ईसा पूर्व अर्थात आज से 9200 वर्ष पूर्व ययाति के इन पांचों पुत्रों का संपूर्ण धरती पर राज था। पांचों पुत्रों ने अपने- अपने नाम से राजवंशों की स्थापना की। यदु से यादव, तुर्वसु से यवन, द्रुहु से भोज, अनु से मलेच्छ और पुरु से पौरव वंश की स्थापना हुई।

ययाति ने दक्षिण-पूर्व दिशा में तुर्वसु को (पंजाब से उत्तर प्रदेश तक), पश्चिम में द्रुह्यु को, दक्षिण में यदु को (आज का सिंधु -गुजरात प्रांत) और उत्तर में अनु को मांडलिक पद पर नियुक्त किया तथा पुरु को संपूर्ण भूमंडल के राज्य पर अभिषिक्त कर स्वयं वन को चले गए।

द्रुह्यु का वंश : द्रुह्यु के वंश में राजा गांधार हुए। ये आर्यावर्त के मध्य में रहते थे। बाद में द्रुहुओं को इक्ष्वाकु कुल के राजा मंधातरी ने मध्य एशिया की ओर खदेड़ दिया। पुराणों में द्रुह्यु राजा प्रचेतस के बाद द्रुह्युओं का कोई उल्लेख नहीं मिलता। प्रचेतस के बारे में लिखा है कि उनके 100 बेटे अफगानिस्तान से उत्तर जाकर बस गए और श्म्लेच्छश कहलाए।

ययाति के पुत्र द्रुह्यु से बभ्रु का जन्म हुआ। बभ्रु का सेतु, सेतु का आरब्ध, आरब्ध का गांधार, गांधार का धर्म, धर्म का धृत, धृत का दुर्मना और दुर्मना का पुत्र प्रचेता हुआ। प्रचेता के 100 पुत्र हुए, ये उत्तर दिशा में म्लेच्छों के राजा हुए।

कुछ इतिहासकारों के अनुसार यदु और तुर्वस को दास कहा जाता था। हालांकि यदु और तुर्वस के विषय में ऐसा माना जाता था कि इंद्र उन्हें बाद में लाए थे। लेकिन यह सभी आर्य ही थे। सरस्वती दृषद्वती एवं आपया नदी के किनारे भरत समुदाय के लोग बसते थे। सबसे महत्वपूर्ण समुदाय भरत का था। इसके शासक वर्ग का नाम त्रित्सु था। संभवत: सृजन और क्रीवी समुदाय भी उनसे संबद्ध थे।

माना जाता है कि तुर्वस और द्रुह्यु से ही यवन और मलेच्छों का वंश चला था। इस तरह यह इतिहास सिद्ध है कि ब्रह्मा के एक पुत्र अत्रि के वंशजों ने ही यहुदी, यवनी और पारसी धर्म की स्थापना की थी। यहुदियों के जो 12 कबीले थे उनका संबंध द्रुह्यु से ही था। हालांकि यह शोध का विषय है। ■

साभार : https://hindi.webdunia.com/sanatan-dharma-history/gandhar-janapad-114123100018_1.html

प्रो. अलाउद्दीन शाह

पूर्व-इस्लामी युग में गंधार फिरदौसी के शाहनामा के संदर्भ में

कवि फिरदौसी ने अपनी कालजयी कृति शाहनामा में भारत की संस्कृति के साथ-साथ समृद्धि और शौर्य का भी विशद वर्णन किया है। निश्चित रूप से उनकी यह समझ गंधार के माध्यम से ही थी, जो सीमावर्ती होने के कारण उनके लिए भारत का सबसे निकटतम क्षेत्र था

भारत और अफगानिस्तान की महान सभ्यताओं के बीच प्रागैतिहासिक काल से सांस्कृतिक, साहित्यिक और राजनीतिक संबंध रहे हैं। संस्कृति, लोकाचार , आनुवंशिक और भाषिक स्तर पर दोनों देशों के लोगों में जो समानताएं मिलती हैं, उनसे प्रमाणित होता है कि दोनों देशों की प्राचीन सभ्यताओं का मूल एक ही है जिससे उत्पन्न वृक्ष की शाखाएं विभिन्न दिशाओं में फैल गई हैं। जिन पुरातत्त्वविदों और प्राचीन इतिहास के शोधकर्ताओं ने संसार की विभिन्न जातियों पर व्यापक शोध किया है। वे यह मानते हैं कि 2000 ई.पू. के बाद अर्द्ध-ख़ानाबदोश कबीले मध्य एशिया से दक्षिण में वर्तमान वृहतर खुरासान और अफगानिस्तान की ओर चले गए। लोगों के इन समूहों के अंतर्गत भारत ईरानी भी आते थे जो भारोपीय भाषाएं बोलते थे। बाद में ये कबीले कैस्पियन सागर के साथ साथ चलने वाले उत्तरी रास्तों से होते हुए सुदूर दक्षिण एशिया, पश्चिम एशिया और यूरोप की ओर निकल गए। उस समय इस क्षेत्र को 'आर्याना'[1] कहा जाता था। समय बीतता गया और इन अर्द्ध-खानाबदोश कबीलों की शाखाएं अफगानिस्तान और उपमहाद्वीप के अन्य भागों में बस गई और उन्होंने अपनी खानाबदोश प्रवृत्ति को त्याग कर कृषि आधारित सभ्यताओं की स्थापना की और फिर शहरों का विकास भी किया।

डॉ. अली अकबर शाहाबी खुरासानी अपनी पुस्तक 'लिटरेरी रिलेशंस बिटवीन इंडिया एंड ईरान' में लिखते हैं, "दान्यूब नदी, बाल्टिक सागर और आमू नदी (जिहून रूद) के किनारों से और हिंदूकुश के दर्रों से भारोपीय आर्यजन मैदानों की ओर आए तो एक दूसरे से अलग हो गए। फिर भी उनके बीच रह रह कर संबंध स्थापित होते रहे जिनमें साहित्यिक और राजनैतिक संबंध भी आते हैं। भारतीयों और ईरानियों (अफगानों सहित) की इन दो शाखाओं के बीच संबंध अधिक जीवंत रहे हैं क्योंकि दोनों ही स्थानों में अधिकतम क्षेत्रों जैसे भाषा, धर्म, रीति रिवाज और नैतिकता को लेकर काफी समानताएं थीं और एक दूसरे से अलग होने के बाद भी उनके आवास स्थल एक दूसरे से अधिक दूरी पर नहीं थे।[2] वे आगे कहते हैं कि शोधकर्ताओं का एक समूह मानता है कि 1350 ई. के आसपास पर्शियनों (वर्तमान अफगानों) का धर्म एक ही था और 19वीं और 14वीं शताब्दी ईसा पूर्व में उनके धर्मों की भिन्नताएं आधार प्राप्त करने लगी थीं। कुछ भाषा वैज्ञानिक यह भी मानते हैं कि बहुत संभव है कि आरंभिक और प्राचीन आर्य मूलभूत भारतीय संस्कृत भाषा ही बोलते रहे हों। भारोपीय भाषाओं की विभिन्न शाखाएं मूलभूत संस्कृत से ही निकली हैं। दूसरे शब्दों में संस्कृत, अवेस्ता और पुरानी फारसी एक दूसरे के बहुत निकट हैं। उनकी मूल भाषा एक है, मूल स्रोत एक है।[3] इस क्षेत्र (वर्तमान अफगानिस्तान) का इतिहास पांचवीं शताब्दी ई.पू. तक जाता है जब यह हख्मनेशियाई साम्राज्य के शासन में था। परंतु वहां 3000 ई.पू. से 3000 ई.पू. तक नागरिक सभ्यता की उपस्थिति के पुरातात्त्विक प्रमाण उपलब्ध हैं। उत्तर में सिंधु घाटी की सभ्यता अफगानिस्तान के एक बड़े भूभाग में फैली हुई थी। ग्वागमेला के युद्ध में फारस को हराने के बाद सिकंदर और उसकी मेसिडोनियाई सेना उस स्थान पर पहुंची जिसे आज अफगानिस्तान कहते हैं। तब से अफगानिस्तान से अनेक साम्राज्य उभरे जिनमें कुषाण, हिंदूशाही, गजनवी, गौरी, खिलजी, तैमूरी, मुगल, होतकी और दुर्रानी भी आते हैं।[4]

अफगानी और भारतीय सभ्यताओं को उद्गम एक ही स्रोत से न भी होता तो फिर भी अपने राजनीतिक इतिहास के विभिन्न चरणों में भौगोलिक

निकटता और साथ लगती हुई सीमाओं के कारण आपस में निकट संबंध बनाए रखना दोनों की नियति थी। दोनों देशों में न केवल संस्कृति, मिथकों, धर्म, साहित्य और दर्शन के स्तर पर समानताएं हैं अपितु इतिहास के अनेक लंबे कालखंडों के दौरान उन्होंने जीवंत राजनीतिक, वाणिज्यिक और रक्तसंबंधों को पोषित किया है। जबकि आरंभिक काल में, बादशाह दारा का साम्राज्य भारत की भूमि तक फैला था फिर भी आज के अफगानिस्तान पर हिंदूशाही शासकों का ही राज था।[5] इसके साथ ही व्यापार, वाणिज्य, कला और साहित्य का आदान-प्रदान भी दोनों देशों के बीच होता रहा होगा क्योंकि दोनों ही अपनी सांस्कृतिक विरासत और सौंदर्यबोध में इतने विकसित थे कि इन क्षेत्रों में आदान-प्रदान के बिना रह ही नहीं सकते थे।

ऐसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के चलते आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि दोनों ही देशों के नेता, लेखक और कवि अपनी ऐतिहासिक और अन्य कृतियों में दोनों देशों की समान विरासत को न केवल दर्ज करते हैं अपितु उसे पुनर्स्थापित भी करते हैं। शाहनामा ऐसी ही एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक कृति है जो दोनों ही देशों के साहित्यिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक संबंधों को रेखांकित करती है।

शाहनामा में भारत और भारतीय तत्त्वों के संदर्भ

शाहनामा एक ऐसे समय में लिखा गया ग्रंथ है जब एक देश उथल-पुथल से गुजर रहा था। यह संक्रमण और परिवर्तन का समय था जब विदेशी आक्रांताओं के पंजे में छटपटाता हुआ देश समझ नहीं पा रहा था कि वह क्या करे? इसी समय का इतिहास इस ग्रंथ में पढ़ने को मिलता है जिस में देश की तत्कालीन अस्मिता, संस्कृति, भाषा, मूल्यों और धर्म की स्थितियां दृष्टिगोचर होती हैं। यदि आज अफगानिस्तान यह दावा कर पाता है कि उसने अपनी प्राचीन अस्मिता, मूल्यों और संस्कृति को इस्लाम धर्म और शरीयत अपनाने के बावजूद सुरक्षित रखा है तो उसका बहुत बड़ा श्रेय फिरदौसी की राष्ट्रभक्ति और काव्य प्रतिभा को ही जाता है। संसार की अनेक प्राचीन सभ्यताओं ने मौखिक परंपरा के माध्यम से अपनी अस्मिता और सभ्यता को अपने मिथकों में सुरक्षित रखा है। फिरदौसी ने न केवल उन परंपराओं को पुनर्जीवित करने का महती कार्य किया अपितु उन्हें एक ठोस आकार और निरंतरता भी दी जिससे वे आने वाली पीढ़ियों के लिए सुरक्षित रह पाई। उन्होंने अपनी कृति में न केवल अपने समय के लोगों की उपलब्धियों, आकांक्षाओं और स्वप्नों को अभिव्यक्ति दी है अपितु भारत जैसे पड़ोसी देशों से उनके साक्षात्कार और संबंधों का लेखा-जोखा भी प्रस्तुत किया है। भारत में उनका सबसे निकट पड़ोसी गंधार ही था। निश्चित रूप से फिरदौसी की दृष्टि बनाने में इस सीमा प्रांत की बड़ी भूमिका रही। शाहनामा में अन्य लोगों पर मात्र सरसरी नजर नहीं डाली गई बल्कि उनके बारे में विस्तार से बताया गया है। आइए देखते हैं कि 'बादशाहों के इस महाकाव्य' में भारत और भारतीय तत्त्वों के बारे में क्या और कैसे कहा गया है?

शाहनामा में हिंदुस्तान से संबंधित कम से कम 325 संदर्भ मिलते हैं। ये सब नामों के रूप में हैं -जैसे, हिंद, हिंदी, हिंदवी, हिंदू, हिंदुआ और हिंदुस्तान। भारतीय स्थानों और रियासतों जैसे सिंध, कन्नौज और कश्मीर के उद्धरण भी मिलते हैं। अधिकांश उद्धरण शस्त्रों और उपकरणों के भारतीय संस्करणों से संबंधित हैं, जैसे तलवार (शमशीरे हिंद, तेगे हिंद, कटार (खंजर), छाता (छातरे हिंद)। भारतीय वाद्यों/ घंटियों (हिंदी दराई) के साथ मिलकर कुल 113 उद्धरण हो जाते हैं। शाहनामा की विभिन्न कथाओं के कुछ पद्यांशों पर ध्यान देना यहां उचित होगा:

भारतीय तलवार (शमशीरे हिंद, तेगे हिंद) के उपयोग से संबंधित उद्धरण :

जिस लम्हे मैंने एक नाराज हाथी को देखा
उसी लम्हे मैंने एक शमशीरे हिंद खींच ली।
(शाहनामा-ए-फिरदौसी पृ. 146)
क्या अरबी घोड़े हैं सोने की लगाम वाले
क्या शमशीरे हिंद है सोने की म्यान के साथ।
(शाहनामा-ए-फिरदौसी पृ. 86)

भारतीय कटार (खंजरे हिंदुस्तान) के उपयोग से संबंधित उद्धरण :

गुर्जों के खजाने में और जिस्म पर
हिंदुस्तान के खंजरों के साथ सज
रहे थे भाले। (शाहनामा-ए-फिरदौसी
पृ. 470)

शाह इस्माइल द्वितीय पांडुलिपि लगभग 1577ई. चित्रकर: अली असगर युद्ध में खुसरो परवेज और बहराम चुबिन साभार: https://www.heritageinstitute.com/zoroastrianism/shahnameh/

भारतीय वाद्यों और घंटियों (दराई) के उपयोग से संबंधित उद्धरण :

आवाज घंटियों और हिंदी दराई की
उठ रही है गलियारे के पर्दों के पीछे
से।(शाहनामा-ए-फिरदौसी पृ.116)

शाहनामा के पद्यों में हिंदुस्तान के उल्लेख के ऐसे ही अनेक उदाहरण मिलते हैं। *हिंद* शब्द का प्रयोग अन्य शब्दों के साथ जोड़कर किया गया है, जैसे *किश्वर-ए-हिंदुआँ* (भारत देश), *दरिया-ए-हिंद या दरिया-ए-सिंध* (हिंदुस्तान की नदी या सिंध का सागर) मर्जे-हिंदुस्तान (भारत या हिंदुस्तान की सीमा) आदि।

ऐसे प्रयोगों के कुछ उदाहरण:
किश्वर-ए-हिंदुआँ या हिंद (हिंदुओं का देश या हिंदुस्तान)

वह चल दिया किश्वरे हिंदुआँ की ओर
काबुल ताम्बूर से होते हुए पक्षियों और जादूगरों के देश की ओर। (शाहनामा-ए-फिरदौसी पृ. 117)

हाँ मेरी माँ मेहराब की बेटी थी
और उसी की वजह से किश्वर-ए-हिंदुस्तान मोहक और समृद्ध था। (शाहनामा-ए-फिरदौसी पृ.117)

नामुमकिन है भरोसा करना कि यह किश्वर-ए-हिंदुस्तान तबाह हो गया
और बाघों और शेरों का घर हो गया। (शाहनामा-ए-फिरदौसी पृ.1895)

दरिया-ए-हिंद या सिंध (हिंद या सिंध का सागर):
किसी ने कहा कि वह रोम और हिंद का बादशाह है
कन्नौज से लेकर दरिया-ए-सिंध तक। (शाहनामा-ए-फिरदौसी पृ.20)

इसी रास्ते पर चलते जाओ और मर्ज-ए-हिंद तक पहुंच जाओगे और वहां से पार करोगे तुम दरिया-ए-सिंध को। (शाहनामा-ए-फिरदौसी पृ.424)

मर्ज-ए-हिंअया हिंदुस्तान (हिंदुस्तान या सिंध की सीमा):
मैं चलता जाऊंगा जादूगरों के देश के रास्ते पर जब तक मर्ज-ए-हिंदुस्तान तक न पहुंच जाऊं। (शाहनामा-ए-फिरदौसी पृ.48)

शंगल की ओर जो कि सरपरस्त-ए-हिंद है
दरिया-ए-कन्नौज से मर्ज-ए-सिंध तक। (शाहनामा-ए-फिरदौसी पृ.1684)

इसी प्रकार शाहनामा में हिंद का नाम दूसरे देशों के साथ जोड़कर भी लिया गया है। जैसे, हिंद-ओ-ईरान, हिंद-ओ-चीन और हिंद-ओ-रूम आदि। भारत के किसी भी शासक के बारे में लिखते हुए राय की उपाधि का इस्तेमाल किया गया है:

उसने बादशाह का पैगाम दिया जिसे सुनकर राय का चेहरा फूल की तरह खिल उठा। (शाहनामा-ए-फिरदौसी पृ.1882)

शाहनामा की एक कथा में जब रुस्तम ने अफगानों और कमूसियों को मार डाला तो इस निराशाजनक हार से तूरानी बिल्कुल पस्त हो गए। तब उन्होंने सेना इकट्ठी की और पड़ोस के देशों चीन तथा भारत से सहायता मांगी। खाकान चिन की एक कथा में बताया गया है कि भारत का एक राजा शंगल ईरान के विरुद्ध युद्ध में अफगानिस्तान की मदद करने का लिए आया था। मंझे हुए योद्धा रुस्तम के भयंकर हमलों और लगातार युद्ध से परेशान तूरानी सैनिकों के सामने शंगल ने भाषण देकर उनमें उत्साह का संचार किया

ऐसे बहुत सारे और भी उदाहरण शाहनामा में मिलते हैं जिनमें हिंदुस्तान का जिक्र मिलता है। पूछा जा सकता है कि नाम में क्या रखा है? बहुत कुछ रखा है। इतना कुछ कि एक-एक करके नामों पर विचार करना असंभव है। भारत और उसके सार-तत्त्व का वास्तविक वर्णन शाहनामा की कहानियों और उन कहानियों के अनेक हिस्सों में मिलता है जो इस देश से संबंधित हैं।

शाहनामा में भारत के आरंभिक काल के संदर्भ

पौराणिक और मिथकीय संदर्भों से संबंधित शाहनामा का जो आरंभिक भाग है, उसमें भारत को लेकर जो कुछ लिखा हुआ है उससे पता चलता है कि भारत न केवल एक जाना-माना देश था बल्कि यहां अनेक महत्वपूर्ण व्यक्ति लगातार आते रहते थे जैसा की पहले ही बताया जा चुका है। ऐसा भी माना जाता है कि खुसरो ने रुस्तम को भारत पर विजय प्राप्त करने का लिए भेजा था।

शाहनामा की एक कथा में जब रुस्तम ने अफगानों और कमूसियों को मार डाला तो इस निराशाजनक हार से तूरानी बिल्कुल पस्त हो गए। तब उन्होंने सेना इकट्ठी की और पड़ोस के देशों चीन तथा भारत से सहायता मांगी। खाकान चिन की एक कथा में बताया गया है कि भारत का एक राजा शंगल ईरान के विरुद्ध युद्ध में अफगानिस्तान की मदद करने का लिए आया था। मंझे हुए योद्धा रुस्तम के भयंकर हमलों और लगातार युद्ध से परेशान तूरानी सैनिकों के सामने शंगल ने भाषण देकर उनमें उत्साह का संचार किया। (शाहनामा-ए-फिरदौसी पृ.679)

लोहरास्प और गोश्तास्प

जब लोहरास्प आर्याना के सिंहासन पर बैठा और राज-काज संभाल लिया तो उसने भारत सहित सभी सभ्य देशों में अपने दूत भेजे। परंतु कुछ देर बाद लोहरास्प और उसके पुत्र गोश्तास्प में मनमुटाव हो गया और गोश्तास्प अपने पिता को छोड़ कर चला गया। यह पूछने पर कि वह कहां रहेगा उसने जवाब दिया कि वह भारत चला जायेगा और हिन्दुओं के बीच उत्साहित और प्रसन्न रहेगा क्योंकि उसके पास एक पत्र है जिसमें उन्होंने लिखकर दिया है कि वे गोश्तास्प के प्रति पूरी तरह से वफादार रहेंगे। (शाहनामा-ए-फिरदौसी पृ.1058)

दारा का शासन

दरब के पुत्र दारा को फिरदौसी ने दयालु शासक के रूप में प्रस्तुत किया है। दारा ने अपने पिता का राजकोष जनता के लिए खोल दिया। उसने अपनी प्रजा, दरबारियों और सैनिकों को उपहारों से लाद दिया क्योंकि उसे भी अफगानिस्तान के भीतर और बाहर के अनेक महत्वपूर्ण व्यक्तियों और शासकों से प्रशंसा और उपहार प्राप्त हुए थे। भारत, रोम और चीन के दूत मूल्यवान उपहार लेकर उसके दरबार में आते थे ताकि उसका संरक्षण प्राप्त कर सकें। (शाहनामा-ए-फिरदौसी पृ. 1328)

सिकंदर और भारत

आर्याना में सिकंदर जितनी देर तक रहा उस कालावधि का जो वर्णन शाहनामा में किया गया है उसमें भारत के अनेक संदर्भ हैं क्योंकि अफगानिस्तान में रहते हुए सिकंदर लगातार

भारत में दिलचस्पी दिखा रहा था। भारतीय इतिहासकारों ने भी भारत पर आक्रमण करने की उसकी इच्छा के बारे में लिखा है पर अंततः उसे अपना अभियान अधूरा छोड़ना पड़ा था क्योंकि उसके सैनिक थके हुए थे और युद्ध नहीं करना चाहते थे। पहला संदर्भ एक भारतीय शासक कीद का है जिसे स्वप्नों की व्याख्या एक भारतीय संत मेहरान ने की थी। संत ने कीद को बताया कि सिकंदर की सेना उसकी ओर बढ़ रही है और वह उससे युद्ध न कर के शांति और समझौते की बात करे। (शाहनामा-ए-फिरदौसी पृ.1359) इसी कथा में एक संदर्भ सिकंदर का है जो एक भारतीय चिकित्सक की परीक्षा लेता है। (शाहनामा-ए-फिरदौसी पृ.1373)

सिकंदर और भारत के विषय में अगला संदर्भ एक प्रांत के शासक फुर के विरुद्ध उसका अभियान है। फुर को यूनानी पोरस कहते हैं। इस घटना से संबंधित कई पद्य फिरदौसी ने शाहनामा में लिखे हैं। (शाहनामा-ए-फिरदौसी पृ. 1376 और 1378) सिकंदर ने ब्राह्मणों के विरुद्ध भी एक अभियान छेड़ा। ब्राह्मणों ने उसे एक पत्र भेजा जिसमें उसके साम्राज्य की प्रशंसा की गई थी और कहा गया था कि विद्वानों और परमात्मा के उपासकों के एक प्रांत पर आक्रमण करने से उसे क्या मिलेगा? अंततः सिकंदर ने उनकी सलाह मान ली और उनके विरुद्ध अपना अभियान रोक दिया।

इसी कथा में विभिन्न नैतिक और दार्शनिक मुद्दों को लेकर सिकंदर और एक ब्राह्मण के बीच वाद-विवाद होता है। यह वाद-विवाद प्रश्नोत्तर रूप में है। उदाहरणार्थ, जब सिकंदर सूखी धरती और पानी तथा संसार में सर्वाधिक पुण्यवान और सर्वाधिक पापी मनुष्यों के अनुपात के बारे में पूछता है तो ब्राह्मण कहता है कि जल के अनुपात को बनाए रखने का ध्यान भी सूखी धरती ही रखती है। सबसे अधिक पुण्यवान वही है जिस पर लोभ और ईर्ष्या हावी न हों। इसके विपरीत स्थिति ही मनुष्य को अधिक पापी बना देती है क्योंकि ईर्ष्या और लोभ के कारण वह अपना विवेक खो बैठता है। (शाहनामा-ए-फिरदौसी पृ.1405)

भारतः अफगान शासकों की शरणस्थली

1.सासन साम्राज्यः सासन साम्राज्य के बारे में बात करते हुए फिरदौसी कहते हैं कि जब दारा युद्ध में मारा गया तो उसका बेटा दारा भाग कर भारत आ गया। बाद में वह हिंदुस्तान में ही अत्यंत बुरी परिस्थितियों में मरा। पर भारत में वह चार पीढ़ियों की अपनी विरासत छोड़ गया जिसमें हर पीढ़ी के पिता ने अपने बेटे का नाम सासन रखा। (शाहनामा-ए-फिरदौसी पृ.1447)

2. अर्दाशिर का साम्राज्यः अर्दाशिर के साम्राज्य के अंतर्गत फिरदौसी लिखते हैं कि अर्दाशिर ने अर्दावन को मारकर उसकी बेटी से विवाह कर लिया। अर्दावन के पुत्रों ने भारत में शरण ली। सबसे बड़े बेटे बहमन ने अपनी बहन के साथ मिलकर एक हिंदुस्तानी जहर देकर अर्दाशिर की हत्या करने की योजना बनाई जो असफल रही। (शाहनामा-ए-फिरदौसी पृ. 1480-81)

यहां अर्दाशिर को घोड़ों, दीनारों और पक्षियों के उपहारों के साथ एक दूत को एक भारतीय ज्योतिषी के पास भेजते भी दिखाया गया है ताकि यह मालूम किया जा सके उसके साम्राज्य और इस साम्राज्य के बने रहने के विषय में ग्रहों का क्या कहना है। (शाहनामा-ए-फिरदौसी पृ.1487)

बहराम गुर की भारत यात्रा

भारतीयों और अफगानियों का निकट संबंधों का एक और उदाहरण एक अन्य कथा के माध्यम से फिरदौसी देते हैं। बहराम गुर के शासनकाल में एक भारतीय राजा शंगल कुछ आर्य प्रदेशों पर अधिकार करने के बारे में सोच रहा था। (शाहनामा-ए-फिरदौसी पृ.1682)

बहराम व्यक्तिगत रूप से शंगल से मिलने भारत गया ताकि उसे समझा सके कि वह अपनी योजनाएं त्याग दे। उसकी भारत-यात्रा से समस्या शांतिपूर्ण ढंग से सुलझ गई और दोनों राज्यों के बीच संबंध सुदृढ़ हो गए। (शाहनामा-ए-फिरदौसी पृ.1696-97)

खर्राद द्वारा हिंदू धर्म की व्याख्या

बहराम चुबीना के शासनकाल में जब खुरो परवेज को सिंहासनच्युत कर दिया गया तो वह गुप्त रूप से रूम की यात्रा के लिए गया तो उसके साथ उसके अनेक अनुचर भी गए जिनमें एक दार्शनिक के पुत्र खर्राद भी थे। वे अपनी विद्वता के लिए प्रसिद्ध थे। फिरदौसी खर्राद को एक असाधारण विद्वान के रूप में व्याख्यायित करते हुए कहते हैं कि वह विभिन्न विषयों पर रोम के सीजर से बहस करता है। एक स्थान पर तो वह सीजर को हिंदू धर्म के बारे में भी समझाता है। इस लंबी बहस की व्याख्या करने वाले अंतिम पद्यों में खर्राद कहता है कि भारत में गाय और चंद्रमा दोनों को ही पवित्र और देवता स्वरूप माना जाता है। (शाहनामा-ए-फिरदौसी पृ.2118)

इंडोनेशिया के मध्य जावा स्थित मेंदुत मंदिर में पंचतत्र की एक नक्काशी
साभारः https://en.wikipedia.org/wiki/Panchatantra#/media/File:Mendhut-Tantri02.jpg

शतरंज के खेल की कहानी: यह अफगानिस्तान कैसे पहुंचा?

शतरंज के खेल का आविष्कार भारतीयों ने किया था और एक चुनौती के रूप में इस खेल के बादशाह नौशेरवां के दरबार में आने का जैसा जीवंत वर्णन फिरदौसी ने किया है वैसा भारतीय स्रोतों में भी नहीं मिलता। फिरदौसी केवल इस खेल के आर्याना पहुंचने की प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन नहीं करते और केवल इस बात तक सीमित नहीं रहते कि अफगानी न केवल इस खेल के नियमों को समझने में सफल रहे बल्कि अत्यंत बुद्धिमान मंत्री बुजुर्गमेहर ने भारतीय चुनौती के जवाब में शतरंज जैसे ही एक चुनौतीपूर्ण खेल बैकगैमन की रचना की जो चौपड़ की तरह पांसा फेंक कर खेला जाने वाला खेल है। इस खेल को वे भारतीय राजा यानी राय के पास एक जवाबी उपहार के रूप में ले गए। इतना सब लिखने के साथ ही फिरदौसी भारत में शतरंज के आविष्कार की लंबी और आश्चर्यजनक गाथा का वर्णन करता है। शतरंज की कहानी यों आरंभ होती है कि एक दिन बादशाह एक गुप्त सभा कर रहे थे तो गुप्तचरों से उन्हें सूचना मिली कि भारत के शासक की ओर से एक दूत हाथियों, छत्रों और घुड़सवार सैनिकों के साथ आया है। उस दूत के साथ एक हजार लदे हुए ऊंट थे और वह बादशाह से मिलना चाहता था। (रूबेन लेवी, अनु., 1973, पृ. 327, (शाहनामा-ए-फिरदौसी पृ.1877)

इसके बाद दूत ने एक रेशमी कपड़े पर लिखा संदेश प्रस्तुत किया जिसे भारत के राय ने बादशाह नौशेरवां के लिए भेजा था। इसमें अफगानों के लिए चुनौती थी कि खेल के नियमों की पहेली का जवाब बताएं। (शाहनामा-ए-फिरदौसी पृ.1877-78)

नौशेरवां ने जिससे भी पहेली का जवाब ढूंढने के लिए कहा, वही असफल हुआ। अंत में विनम्र और बुद्धिमान मंत्री बुजुर्गमेहर की सहायता ली गई। बुजुर्गमेहर मान गए और बादशाह को कुछ राहत मिली। काफी अध्ययन करने के बाद उनकी समझ में सब आ गया और उन्होंने बादशाह को सूचना दी। (शाहनामा-ए-फिरदौसी पृ.1879) यद्यपि यहां फिरदौसी की राष्ट्रभक्ति के दर्शन होते हैं क्योंकि उन्होंने इस रचनात्मक स्पर्धा में बुजुर्गमेहर की बुद्धिमानी के चलते अफगानियों की भारत पर विजय को दिखाया है, फिर भी यह बिल्कुल स्पष्ट है कि दोनों देशों के बीच सौहार्दपूर्ण और जीवंत संबंध थे।

इस कथा के अंत में फिरदौसी भारत के तालखंड़ और गोव नामक स्थानों का जिक्र करते हैं जहां शतरज के खेल का आविष्कार हुआ। इस कथा से तत्कालीन भारतीय संस्कृति के बारे में काफी कुछ पता चलता है। इसमें फिरदौसी सती प्रथा के बारे में भी एक संभावित संदर्भ प्रस्तुत करते हैं। (शाहनामा-ए-फिरदौसी पृ.1879)

कलील-ओ-दिमना की कथा

संस्कृत ग्रंथ पंचतंत्र का पहलवी भाषा में किया गया अनुवाद भारत और ईरान के साहित्यिक संबंधों का महत्वपूर्ण प्रतीक है। दारी भाषा में जिस कृति का अनुवाद कलील-ओ-दिनमा शीर्षक से किया गया, उसका सबसे पहला अनुवाद या रूपांतरण खुसरो अनुशीर्वन (550-578 ई.) के शासनकाल में पहलवी (मध्य फारसी) भाषा में हुआ। यह रूपांतरण बादशाह के आदेश पर शाही हकीम बुर्जो ने किया था। इस कथाग्रंथ के पहलवी अनुवाद की कहानी भी अपने आप में अत्यंत रोचक है जो संभवत: बुर्जो के संपादकत्व के दौरान ग्रंथ की प्रस्तावना के रूप में रखी गई थी। यह अरबी और फारसी अनुवादों में भी आ चुकी है। पहली कथा जो अबू मंसूर सालबी निशापुरी (350-429 हिजरी) द्वारा लिखित फारस के इतिहास तारीख-ए-गुर-ए-अकबर-ए-मलूक अल फरस में भी उपलब्ध है, कमोबेश सटीक काव्यानुवाद में फिरदौसी ने शाहनामा में प्रस्तुत की है। पंचतंत्र की कहानियों पर आधाारित नक्काशियां इंडोनेशिया के एक मंदिर में भी उकेरी गई है।

एक बार बुर्जो ने बादशाह को बताया कि भारत में अमृत मिलता है जिससे मरे हुए भी जी उठते हैं। बुर्जो इस अमृत को खोजना चाहता था। इसलिए अनुशीर्वन ने उसे एक भारतीय शासक के नाम एक पत्र के साथ भारत भेज दिया ताकि उद्देश्य पूरा करने के लिए हरसंभव सहायता प्राप्त हो सके। लेकिन हुआ ऐसा कि बुर्जो ने अमृत तो खोज लिया पर उससे कोई भी मुर्दा जिंदा न हो सका। (शाहनामा-ए-फिरदौसी पृ.1911)

बुर्जो अत्यंत निराश हुआ और समस्या के समाधान के लिए बड़े-बड़े ऋषियों के पास गया क्योंकि वह अपने बादशाह के पास खाली हाथ नहीं जा सकता था। तब एक प्रसिद्ध दार्शनिक मिला जिसने अमृत की तलाश में दिन रात एक कर दिए थे पर प्राप्त कुछ नहीं हुआ था। अंतत: उसने पाया कि अमृत तो असल में एक पुस्तक है। उस पुस्तक की एक प्रति उसने बुर्जो को दिखाई। इस दार्शनिक ने पहली पुस्तक जो कि ईरान के बादशाह को उपहारस्वरूप दी गई थी, में मौजूद रूपक को भी स्पष्ट किया और बुर्जो अपनी यात्राओं पर निकल पड़ा। वह समझ गया कि ऊंचे पहाड़ और कोई नहीं वे अत्यंत बुद्धिमान और विवेकशील मनीषी थे जिनकी कृतियां वृक्ष और जड़ी-बूटियां थीं और इन्ही अमूल्य कृतियों में मौजूद पांडित्य और बुद्धिमता ही वह अमृत था जिससे कि नासमझों और विवेकहीनों की जड़ता को तोड़कर जीवनदायी बुद्धि और विवेक का संचार किया जा सकता है।

बुर्जो ने इस पुस्तक की एक प्रति मांगी जो सदैव उन राजाओं के पास होती थी, क्योंकि यह नैतिक दर्शन से लबालब भरी हुई थी। इस कृति का अनुवाद अपनी भाषा में करने की अनुमति भी बुर्जो ने मांगी। इसके बाद उन सभी दार्शनिक मनीषियों की सहायता से बुर्जो ने उस प्रसिद्ध पुस्तक का अनुवाद पहलवी में किया और उसे लेकर घर लौट गया। संस्कृत विद्वान चंद्रा राजन ने पंचतंत्र के अपने अनुवाद में इस कथा का उल्लेख किया है।[4]

संस्कृत ग्रंथ पंचतंत्र का पहलवी भाषा में किया गया अनुवाद भारत और ईरान के साहित्यिक संबंधों का महत्वपूर्ण प्रतीक है। दारी भाषा में जिस कृति का अनुवाद कलील-ओ-दिनमा शीर्षक से किया गया, उसका सबसे पहला अनुवाद या रूपांतरण खुसरो अनुशीर्वन (550-578 ई.) के शासनकाल में पहलवी (मध्य फारसी) भाषा में हुआ। यह रूपांतरण बादशाह के आदेश पर शाही हकीम बुर्जो ने किया था

निष्कर्ष

अत: यह स्पष्ट हो जाता है कि फिरदौसी का 'शाहनामा' भारत और भारतीय तत्त्वों के संदर्भों से भरा पड़ा है। ये संदर्भ भारत के पौराणिक काल से आरंभ होकर फिरदौसी के अपने समय तक आते हैं जब उसके दुविधाग्रस्त संरक्षक महमूद गजनवी का शासन था जिसका परिचय वह हिंद के बादशाह के रूप में देता है।

शाहनामा में आरंभिक काल से संबंधित जो संदर्भ हैं वे सूचनाओं के रूप में महत्वपूर्ण नहीं हैं क्योंकि फिरदौसी ने उन्हें अपने तात्कालिक ज्ञान के आधार पर ही प्रस्तुत किया है। जिन ऐतिहासिक दस्तावेजों का सत्यापन उपलब्ध मुहरों और सिक्कों के आधार पर इतिहासकारों ने किया है उससे पता चलता है कि आरंभिक अफगानियों और प्राचीन सिंधु घाटी की सभ्यता के बीच व्यापार जोर-शोर से चल रहा था और वाणिज्यिक संबंध मजबूत थे। अत: शाहनामा के आरंभिक काल में उपकरणों और शस्त्रों के भारतीय संस्करणों के प्रयोग का जो वर्णन मिलता है वह बाद में नहीं जोड़ा गया है।

शाहनामा में भारत को एक ऐसे देश के रूप में प्रस्तुत किया गया है जहां कठिन परिस्थितियों में अफगान शासक और योद्धा शरण लेने के लिए आते थे। चूंकि शाहनामा योद्धाओं, युद्धों, शासकों और उनके राज्यों का इतिहास है इसलिए निकटतम पड़ोसी होने के कारण संघर्षों के संदर्भों का आना स्वाभाविक है।

फिरदौसी ने मैत्रीपूर्ण सांस्कृतिक संबंधों का विषद चित्रण किया है। शतरंज का खेल और पंचतंत्र का अनुवाद (कलील-ओ-दिनमा) इसके महत्वपूर्ण उदाहरण हैं। कुछ स्थानों पर तो भारत बुतपरस्तों की भूमि और जादूगरों की भूमि (जादूस्तान) के रूप में वर्णित है क्योंकि फिरदौसी के संरक्षक गजनवी ने धन से भरपूर मूर्तिपूजा के केंद्रों को लूटने और नष्ट करने के अभियान चलाए थे। परंतु बुद्धिमता, ज्ञान और दार्शनिकता के कारण भारतीय शासकों और ऋषियों की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है। चिकित्सा विज्ञान और ज्योतिष के अद्वितीय ज्ञान के कारण भी भारतीयों की प्रशंसा की गई है।

कुल मिलाकर शाहनामा में दिए गए संदर्भों से स्पष्ट होता है कि भारत और अफगानिस्तान के बीच सौहार्दपूर्ण संबंध थे और व्यापार जोरों पर था। परंतु इस्लामी कालावधि में इन सौहार्दपूर्ण संबंधों पर महमूद गजनवी के भारत विरोधी सैनिक अभियानों की काली छाया मंडराती रही। ■

संदर्भ संकेत

1. *लेवी, रूबेन,दिएपिक ऑफ दि किंग्स, शाहनामा का अनुवाद, रोलेज एण्ड कीगन पॉल, लंदन और बोस्टन, 1973*
2. *रिप्का, जान, हिस्ट्री ऑफ ईरानियन लिट्रेचर. जर्मन भाषा से अनुवाद, पी.वान पोप्टा-होफे; डि रीडल; 1968।*
3. *शर्मा विष्णु, दि पंचतंत्र, चंद्रा राजन का अनुवाद, पेंग्विन बुक्स, 1993.*
4. *वेबर आल्ब्रेश्ट, दि हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिट्रेचर, द्वितीय जर्मन संस्करण से अनुवाद जॉन मान थियोडोर,(सं.6) वाराणसी, चौखंभा संस्कृत सीरीज, 1961*

फारसी:

1. आतेह हरमन, तारीख़-ए-अदबियात-ए-फारसी, तर्जुमा-ए-डक्टर रजा जादेह शफक, बंगाह-ए-तर्जुमा-ओ-नश्र; तेहरान;136
2. *अब्बासी, मुस्तफा खालिकदाद; (मुतरजिम) पंचक्याना ; बि कोशिश-ए-तारा चंदवा, डॉ. सय्यद आमिर हसन आबेदी. आइ. एम. एच प्रेस लि. दिल्ली, 1973*
3. *अबुल कासिम फिरदौसी; शाहनामा-ए-फिरदौसी, खंड-8, पृ. 2499-2502, तेहरान, 1314*
4. *बुख़ारी, मोहम्मद बिन अब्दुल्लाह, फिरदौसी; दास्तानहा-ए-बिदपई; तस्हीह-ए-परवेज नातिल खानलारी ; ख्वारिज्मी, तेहरान. 1369,*
5. *फर्रोगी, मोहम्मद अली और हबीब नोमानी; मुंतखब-ए-शाहनामा, जश्न-ए-वारेह-ए-तूस के अवसर पर, सिक्का पब्लिकेशंस. 1354.*
6. *हबीब नोमानी ; फिरदौसिदर शाहनामा, जश्न-ए-वारेह-ए-तूस के अवसर पर, इंतिशारात-ए-यग्मा, ईरान, 1354.*
7. *महजूब, मोहम्मद जाफर ; दरबराह-ए-कलील-ओ-दिमना;ख़्वारिज्मी, तेहरान. 1341.*
8. *शेखर, इंदु; पंचतंत्र;दानिशगाह-ए-तेहरान. तेहरान, 1341.*
9. *जर्रींकुब, अब्दुल हुसैन; सेयाहत-ए-बिदपई; मजालाह-ए-रहनुमा-ए-किताब; तेहरान. 1341.*

ई-संसाधन :

1. *फिरदौसी का शाहनामा (www.4shared.com)*
2. *जायगाह-ए-असातिर-ओ-पादिदेहा-ए-फ रहंग-ए-हिंदीदरदस्तानहा-ए-शाहनामा-ए -फिरदौसी। (http://parshistory.blogfa.com/ पर उपलब्ध आलेख।)*

पश्तून लोककथाएं

कद्दू और अखरोट

एक दिन, नसरुद्दीन एक अखरोट के पेड़ के नीचे बैठकर आराम कर रहा था। कुछ ही देर के बाद उसे हैरानी हुई कि इतना बड़ा कद्दू एक मरियल सी बेल पर होता है और अखरोट के लिए इतना बड़ा पेड़ है। उसने मन में सोचा कि कभी-कभी भगवान भी अजीब करता है। धरती पर छोटे से अखरोट के लिए इतना बड़ा पेड़ है और बड़े-बड़े कद्दू इस मरियल बेल पर।

तभी पेड़ से एक अखरोट गिरा और उसके गंजे सिर से टकराया। वह उठा और उसने अपने हाथ ऊपर की तरफ उठाए। और कहा खुदा, मुझे माफ करना। केवल तुम्हीं हो एक समझदार। अब मैं समझ गया कि कद्दू पेड़ पर क्यों नहीं उगते। ■

डॉ. अरिहंत वर्धन

गंधार में हिंदुत्व

भारतवर्ष के षोडश महाजनपदों में एक गंधार का कुछ हिस्सा आज पाकिस्तान में है और कुछ अफगानिस्तान में। यह वही क्षेत्र है जहाँ वैदिक संस्कृति फली-फूली। इसलिए राजनीतिक रूप से भारत से पृथक होने के बावजूद इस पूरे क्षेत्र में हिंदू संस्कृति के अवशेष आज भी विद्यमान हैं

अपने बचपन की पढ़ी कहानियों में "रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा रचित काबुलीवाला" के माध्यम से मैं अफगानिस्तान से थोडा बहुत रूबरू हो गया था। "काबुलीवाला" शीर्षक रखने का आशय सिर्फ अफगानिस्तान की आज की राजधानी काबुल को दर्शाना था। यह कहानी हिंदुस्तान और अफगानिस्तान के मानवता-बंधुता और प्रेम के स्वच्छ-निर्मल चरित्र को उजागर करती है। 1892 ई. में लिखी गई यह कहानी, रहमत नामक एक मुस्लिम अफगान एवं बंगाली हिंदू परिवार की लड़की मिनी के इर्द-गिर्द घूमती है जो वात्सल्य प्रेम का अनूठा नमूना दर्शाता है। मिनी के पिता द्वारा कुछ रकम, शादी के खर्च में कटौती कर रहमत को वापस अफगानिस्तान भेजने का संदेश बंधुत्व और मानवता का उत्कृष्ट नमूना दिखाई देता है।

कहानियों की दुनिया से बाहर आ कर जब भारतीय प्राचीन इतिहास को समझना शुरू किया तो प्राचीन भारत में राज्य की अवधारणा के रूप में महाजनपद का उल्लेख मिला जो उत्तर वैदिक काल और बौद्ध ग्रंथों में भी दिखाई देता है। बौद्ध ग्रंथ के अंगुत्तर निकाय में 16 महाजनपदों[1] का वर्णन मिलता है जिनमें एक गंधार भी है। गंधार, वर्तमान अफगानिस्तान का कंधार प्रदेश जिसकी राजधानी ज्ञान नगरी तक्षशिला थी। गंधार प्रदेश के राजा सुबल की कन्या शुभा जो हस्तिनापुर के राजा धृतराष्ट्र की पत्नी और कौरवों की माता थीं, गांधारी के नाम से मशहूर हुई। एक अफगान लेखक अहमद अली खान कोहजद लिखते हैं कि अफगानिस्तान का पूर्वी भाग काबुल नदी के स्रोत से लेकर सिंधु नदी से इसके संगम तक फैला हुआ था जिसे वैदिक काल में गंधार कहते थे। गंधार के बीचोंबीच एक अन्य नगर था जिसे नंगरहार कहते हैं। नंगरहार आज अफगानिस्तान का एक प्रान्त है,[2] जो काफिरिस्तान और नूरिस्तान नाम से प्रसिद्ध है।

17वीं शताब्दी के पूर्व अफगानिस्तान नाम का कोई देश नहीं था, यह अहमदशाह अब्दाली के शासन काल (1757-1773) में हुआ। इसको आर्याना, पाक्शिया, खुरासान, पश्तूनख्व्वाह[3] एवं रोह[4] के नाम से ही जानते थे। एक यूनानी इतिहासकार हीरागेप्सने ने करीब 2500 वर्ष पूर्व देश के लिए पाक्शिया शब्द का प्रयोग किया था। अन्य लेखकों ने नाम के रूप में आरियाना, आर्य्या एवं आर्य्यानादि का भी जिक्र किया है। स्ट्राबो 64 ई. एक प्रमुख भूगोलशास्त्री ने भारत-परसिया और आरियाना को आर्यदेश बताया था।[5]

भारत पर आक्रमण के लिए काबुल और कंधार दो दरवाजों जैसे थे। गंधार की भूमि उत्तर-पश्चिम से भारत में प्रवेश करने का द्वार थी।[6] सिकंदर के आक्रमण के समय पश्चिम और उत्तर-पश्चिम की समस्त भूमि भारतीय राजाओं के शासन में थी। चन्द्रगुप्त मौर्य ने 305 ई.पू. में सैल्युकस को पराजित कर 'हिरात', 'काबुल' और 'मकरन' अपने कब्जे में ले लिया था और यह सभी प्रदेश भारतीय संस्कृति के प्रभाव में थे।[7] वेदों से हमें कुभा (काबुल), सुवास्तु (स्वात), और गोमती (गोमल) नदियों का पता चलता है।[8]

अफगानिस्तान चन्द्रगुप्त मौर्य से हर्षवर्धन तक हिंदुस्तान का हिस्सा रहा है। इसके बाद भी वह अलग-अलग समय में हिंदुस्तान का ही हिस्सा रहा है। दिल्ली सल्तनत से मुगलकाल तक अफगानिस्तान हिंदुस्तान का हिस्सा रहा है। मार्च 1739 में नादिरशाह ने मुगल शासक मुहम्मद शाह को हरा दिया और उत्तर भारत पर कब्जा कर लिया।

अफगानिस्तान के प्रमुख शहरों में बल्ख के संबंध में 13वीं शताब्दी में मार्कोपोलो लिखते हैं कि बल्ख विशाल और भव्य नगर है लकिन वह

इस (शताब्दी) से पहले और भी विशालकाय और वैभवपूर्ण था।[9] प्रसिद्ध यात्री ह्वेनसांग भी बल्ख के संबंध में लिखते हैं कि वह 630 ई. में बल्ख के बौद्ध मठों में गए, जिसका घेरा साढ़े 6 मील था जिसमें 6 मठ थे और सबसे बड़ा नवविहार था।[10] 1824 ई. में नुर्करोफ्ट नामक अंग्रेज ने लिखा कि जब हम बल्ख के खंडहरों से गुजर रहे थे तो लगभग 600 किलोमीटर लंबा बाजार मिला जो वास्तव में उस शहर की पुरातन गरिमा का प्राचीन प्रमाण है।[11] 1403 ई. में हेनरी ससस का राजदूत बल्ख से समरकंद पंहुचा था। उसने उस समय तैमूर को अंधा और गद्दी से बिना हिले-डुले बैठा ही पाया था। बल्ख के संबंध में कहते हैं कि बाहरी तथा भीतरी शहरपनाह के बीच खेती होती थी। उसमें रुई बोई जाती थी। शहर के अंदरूनी हिस्से में कुछ आबादी थी।

आमू दरिया तुर्क पारसी भाषा-भाषियों की एक प्रक्रार से प्राकृतिक सीमा थी। आमू के दक्षिण तथा पश्चिम में चगताई गोत्रीय लोग रहते थे। वो फारसी बोलते थे। इस समय आमू दरिया की उपत्यका की भाषा पूर्णतया तुर्क है। 15वीं शताब्दी के मध्य तक अफगानिस्तान प्राय: तैमूर के पुत्र रुख के आधिपत्य में था। हिंदुकुश का दक्षिणी भाग उन दिनों छोटा हिंदुस्तान कहा जाता था।[12] 14वीं शताब्दी के पर्यटक इब्नबतूता (1304-1368) ने हिंदुकुश का शाब्दिक अर्थ हिंदुओं का हत्यारा बताया। इनके अनुसार हिंदुस्तान पर इस्लामी हमलों में असंख्य हिंदू नर-नारी गुलाम बनाकर अफगानिस्तान लाए गए थे। वो यहाँ के शीत एवं बर्फ के कारण इतनी अधिक संख्या में मर गए कि नाम ही हिंदुओं का हत्यारा हो गया।[13] वहीँ जब हम मेहरचंद वर्मा, जो अंतरराष्ट्रीय शांति व एकता के विभाग हिंद व अफगान में उप-सचिव थे, के कथन को *नासिरा शर्मा* की किताब *अफगानिस्तान बुजकशी का मैदान* से जान पाते हैं कि हिंदुकुश के पीछे कुश नहीं कश अर्थात कशीदन से है, कशीदन का अर्थ फारसी में खींचना है, यह पहाड़ के तमाम पानियों को खींचकर काबुल की धरती को सींचता है, जिसकी वजह से इसका नाम हिंदुकुश हुआ। मेहरचंद जी की बातों को पढ़ कर जान पाया कि अफगानिस्तान में आज भी हिंदू धर्म के साक्ष्य इस रूप में मौजूद हैं-[14]

काबुल के आस पास पगमान नाम की एक जगह है जो पहले भगवान या भागीवान नाम से जाना जाता था।

शीकरदरा पहले शंकरदरा के नाम से जाना जाता था। पहाड़ की चोटी पर मानसरोवर है, जिसके उत्तर में किशन देव नाम की जगह आज भी मौजूद है।

बामियान के जटाशंकर नामक स्थान के पास है पचशीर या पंचपीर अर्थात् फारसी में पंज+शीर, जिसका अर्थ पांच शेर है। यह हिंदुस्तान के महाभारत काल के पांच पांडवों का जिक्र करता है, जहाँ वो रहते थे।

गोलान प्रांत में एक स्थान शिव बाला है, जो पहाड़ी के रूप में फैला है जहाँ प्रकृति ने खुद ही एक पत्थर के खंभे खड़े किए और उसके बीच में एक शिवलिंग है। प्राचीनकाल में यह एक देवी मंदिर था जिसका नाम 'काली कलात वाली' था।

मेहरचंद्र जी के अनुसार अफगानी पत्रिका 'जानदो' में आसामई पहाड़ी का जिक्र किया गया था जहाँ आशाओं की माँ का मंदिर है, जो 5000 साल पुरानी है, और आज यह चहलदुख्तर के नाम से मशहूर है।

आज हरिरूद्र या हेरात नदी जो अफगानिस्तान से तुर्कमेनिस्तान की ओर बहती है, का नामकरण हिंदुस्तानी सत्यवादी राजा हरिश्चंद्र के नाम से ही किया गया था।

अफगानिस्तान के गरदेज में पांचवीं शताब्दी के भगवान गणेश की मूर्ति खुदाई के दौरान मिली है, जो काबुल के दरगाह पीर रतन नाथ में सुरक्षित रखी हुई है, जो हेफथलाइट वंश के शासक खिंगल से जुडी हुई है।[15]

काबुल में हिंदू ब्राह्मण राजाओं समंद (सामंत), कमलू (कमलवर्मन), भीम, जयपाल आदि के शासनकाल को देखते हुए इस निष्कर्ष पर पहुंचना लाजिम है कि प्राचीन युग में हिंदुस्तान की तरह अफगानिस्तान में भी हिंदू धर्म का प्रभुत्व रहा है। ■

संदर्भ संकेत

1. सत्यकेतु विद्यालंकार, प्राचीन भारत की शासन पद्दति और राजशास्त्र, श्री सरस्वती संदन, नई दिल्ली, 2011, पृ. 88
2. कोहजद अहमद अली खान, अफगानिस्तान दर पश्तो ए तारीख, अनु. पेशावर, 2001 पृ. 358
3. पश्तूनखव्वाह का प्रयोग अहमदशाह अब्दाली ने अपनी कविता में देश के सम्बोधन के लिए किया है
4. रोह शब्द का प्रयोग पर्वत के लिए किया गया
5. शर्मा नासिरा, अफगानिस्तान बुजकशी का मैदान, सरस्वती प्रेस, नई दिल्ली, पृ.23
6. अफगानिस्तान हिस्ट्री, कोलंबिया इन्साक्लोपिडिया, पृ. 19
7. अफगानिस्तान हिस्ट्री, कोलंबिया इन्साक्लोपिडिया, पृ. 19
8. www.youtube.comwatch?v=K4 Gopsg1FGK
9. शर्मा नासिरा, अफगानिस्तान बुजकशी का मैदान, सरस्वती प्रेस, नई दिल्ली, पृ.29
10. शर्मा नासिरा, अफगानिस्तान बुजकशी का मैदान, सरस्वती प्रेस, नई दिल्ली, पृ.29
11. शर्मा नासिरा, अफगानिस्तान बुजकशी का मैदान, सरस्वती प्रेस, नई दिल्ली, पृ.30
12. सिंह रघुनाथ, आर्यना, ज्ञानमंडल लिमिटेड, बनारस, पृ. 115
13. सिंह रघुनाथ, आर्यना, ज्ञानमंडल लिमिटेड, बनारस, पृ. 29
14. शर्मा नासिरा, अफगानिस्तान बुजकशी का मैदान, सरस्वती प्रेस, नई दिल्ली, पृ.136
15. https://hi.wikipedia.org / wiki/%E %A4%85%E0% A4%AB%E0%A4 97%E0%A4%BE%E0% A4%A8% E0%A4%BF%E0%A4%B8%E 0%A5%8D%E0%A4%A4%E0%A 4%BE%E0%A4%A8_%E0%A4%A E%E0%A5%87%E0%A4%82_%E 0%A4%B9%E0%A4%BF%E0%A 4%A8%E0%A5%8D%E0%A4%A 6%E0%A5%82_%E0%A4%A7%E 0%A4%B0%E0%A5%8D% E0%A4%AE#/media/%E0 % A4 %9A%E0%A4%BF%E0%A4% A4%E0%A5%8D%E0% A4%B0: Kabul_ganesh_khingle.jpg

इष्ट देव सांकृत्यायन

गंधार में गोरखनाथ के शिष्य

समूचा गंधार महाजनपद 18वीं शताब्दी ई. तक गुरु गोरखनाथ के उपदेशों से आलोकित हो रहा था। उनके अनगिनत अनुयायी, जो जोगी कहलाते थे, सारंगी बजा-बजा कर उनके पदों का मधुर गायन करते थे और वे मंत्रों की तरह लोगों के कानों में गूँजते रहते थे। त्रासद स्थितियों में जीवन जी रहे होने के बावजूद आज भी जोगी इस क्षेत्र में अपने गुरु के संदेश गुँजा रहे हैं

हमारे लिए यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि किसी को जाट कहना अपमानजनक हो सकता है। परंतु अफगानिस्तान में जोगियों को जाट कहते हैं और इस संबोधन को अपमानजनक समझा जाता है। अब उन्हें वहाँ जिप्सी यानी ख़ानाबदोश कहा जाता है। अभी उनके सामने जो प्रमुख समस्या है वह यह है कि इन जिप्सियों को तजकिरा यानी पहचान का दस्तावेज उपलब्ध कराने से संबंधित था जो अफगानिस्तान में हर कदम पर आवश्यक होता है।[1] इस बात पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि जिप्सी शब्द का इस्तेमाल ऐसे लोगों के लिए होता है जो असल में भारतीय मूल के हैं, क्योंकि यह सर्वविदित है कि किसी विप्लव के फलस्वरूप हमारे देश के उत्तर-पश्चिमी सीमांत से जिन लोगों को भागना पड़ा वे यूरोप के कुछ देशों में ख़ानाबदोशों की तरह रहने लगे और अब जिप्सी और रोमा के नाम से जाने जाते हैं। वे हाशिए पर जिंदगी जीने के लिए अभिशप्त हैं क्योंकि वे किसी भी अजनबी देश में बस नहीं पाए। जब मैंने तजकिरा के बारे में जानने की कोशिश की और उसे जोगियों को उपलब्ध न कराने का कारण ढूंढना चाहा तो अनेक नए तथ्य सामने आए।

राजनीतिक वादों के बीच जोगियों की स्थिति

पहला तथ्य यह था कि कुछ राजनेताओं ने वादा कर लिया कि जोगियों को तजकिरा उपलब्ध कराने पर विचार किया जाएगा। यह वादा संभवत: 2011 में किया गया था और आज तक इस बारे में कुछ नहीं किया गया। यह न पहला वादा था न आखिरी। अफगानिस्तान के जोगियों को शायद अकसर किए जाने वाले ऐसे वादों की आदत है और तमाम निराशा के बावजूद वे उम्मीद की एक हल्की से किरण पाले हुए हैं कि कभी न कभी तो वह दिन आएगा जब उन्हें तजकिरा मिल पाएगा और वे भी उन सभी सुविधाओं का लाभ उठा सकेंगे जिनके लिए अन्य अफगान नागरिक अधिकृत हैं। ऐसी मन:स्थिति अकारण नहीं है।

कारण मुझे तब समझ में आया जब मैंने वैभव जैन के लिखा एक शोधपत्र पढ़ा। इसका शीर्षक था, "एथ्नलॉजिकल एण्ड लीगल स्टडी ऑफ जोगीज।" वैभव कहते हैं कि जोगियों को मात्र वोट बैंक के रूप में इस्तेमाल किया जाता है और उन्हें झूठे वादों और खोखले आश्वासनों के अतिरिक्त कुछ नहीं दिया जाता।[2]

इसी शोधपत्र में वे स्पष्ट करते हैं कि जोगियों को नागरिकता का कोई दस्तावेज उपलब्ध नहीं कराया गया परंतु चुनावों में वोट देने का अधिकार उन्हें प्राप्त है (जहीर, 2012)।[3] दूसरी ओर वे इस तथ्य को भी रेखांकित करते हैं कि जोगियों के अस्सी प्रतिशत परिवारों में से किसी के पास भी चुनाव पहचान पत्र नहीं है, उनमें से कोई पंजीकृत नहीं है और न ही किसी के पास कोई पहचान-पत्र है (सैमुएल हॉल कंसल्टिंग, 2011)।[4] परंतु इस मताधिकार से केवल राजनेताओं को लाभ होता है और जोगियों के बच्चों को स्कूलों में प्रवेश नहीं मिल पाता। किसी तरह प्रवेश मिल भी जाता है तो उनके सहपाठी तक उनके साथ बराबरी का व्यवहार नहीं करते।

झूठे वादे और खोखले आश्वासन संभवत: जनतंत्र की सबसे बड़ी खामी हैं। रिश्वतखोरी तो नासूर ही है। संयुक्त राष्ट्र शरणार्थी उच्चायुक्त कार्यालय की एक रिपोर्ट में एक प्रमुख लेखक और विश्लेषक अब्दुलहादी हैरन का उल्लेख है जिन्हें फरवरी 2009

में तजकिरा प्राप्त करने के लिए एक जनसंख्या पंजीकरण अधिकारी को रिश्वत तो देनी ही पड़ी थी, साथ ही अपने रसूख का इस्तेमाल भी करना पड़ा था। यह घटना कुंदुज राज्य के किला-ए-जल जिले में हुई थी। (हफिंग्टन पोस्ट, 15 अप्रैल, 2010) यदि एक जाने-माने लेखक के साथ ऐसा हो सकता है तो सहज ही समझा जा सकता है कि एक सामान्य शरणार्थी का क्या हाल होता होगा। हैरन की आंखों देखी को उद्धृत करते हुए रिपोर्ट आगे बताती है कि जनसंख्या पंजीकरण कार्यालय के एक कर्मचारी ने एक आवेदनकर्ता के साथ आक्रामक होते हुए गाली गलौज भी की।[5]

उम्मीद पर दुनिया कायम है

खोखले राजनीतिक वादों और रिश्वतखोरी की समस्या केवल अफगानिस्तान तक सीमित नहीं है। ये विश्वव्यापी समस्याएं हैं जिनसे पार पाना विकासशील देशों में कठिन होता जा रहा है। ऐसी स्थिति में इंस्टीट्यूट ऑफ वॉर एंड रिपोर्टिंग की वेबसाइट पर प्रसारित एक रिपोर्ट हमें सूचित करती है, "नवनियुक्त राष्ट्रीय जनसंख्या पंजीयन निदेशक ने बताया कि उन्होंने राष्ट्रपति से कहा है कि वे देशभर में सभी जोगियों को तजकिरा उपलब्ध कराने के लिए आदेश जारी करें।"[6] लेकिन यह इंतजार कब खत्म होगा, कोई नहीं जानता।

परंतु मूल समस्या कुछ और ही है। राजनीतिक वादों और यहां तक कि सरकारी रिश्वतखोरी से भी इसका कोई लेना-देना नहीं है। समस्या का संबंध है उन गलतफहमियों से जो जोगी समुदाय को लेकर समाज में प्रचलित हैं। कुछ ऐतिहासिक चूक भी इस समस्या के मूल में हैं। जोगियों को जिप्सी माने जाने के मूल में अफगानिस्तान के इतिहास की कुछ कड़ियों का लुप्त होना है। परंतु अतीत को खंगालने से पहले अफगानिस्तान में जोगियों की वर्तमान सामाजिक स्थिति पर एक नजर डालना उचित रहेगा। प्रतिष्ठित अफगान दैनिक आउटलुक अफगानिस्तान की एक रिपोर्ट के अनुसार, "अफगान समाज पितृसत्तात्मक है। पुरुषों की जिम्मेदारी है कि वे काम करें, रोजी-रोटी कमाएं और घर का हर खर्च उठाएं। जबकि सामान्यत: औरतों को घर से निकलने की अनुमति नहीं होती। इसके विपरीत जोगियों की स्त्रियां घर से निकलकर काम करती हैं और परिवार के लिए रोटी कमाती हैं। वे या तो हस्तरेखाएं देखने का काम करती हैं या भीख मांगती हैं। एक जोगी स्त्री गर्भवती होने के बावजूद एक थैला लेकर निकलती है और उसे सुबह से लेकर शाम तक काम करना पड़ता है। बच्चे को जन्म देने के लिए वे प्रसूति-गृहों में नहीं जातीं बल्कि बच्चा अत्यंत प्राकृतिक ढंग से इस संसार में आता है। जोगी समुदाय में जच्चा-बच्चा मृत्यु दर बहुत ऊंची है। जोगी पुरुष आम तौर पर काम नहीं करते लेकिन बुजकशी (एक परंपरागत अफगान खेल) में इस्तेमाल होने वाले घोड़ों की देखभाल में दक्ष होते हैं। पक्षियों की लड़ाई में इस्तेमाल होने वाले तीतरों और बटेरों के साथ-साथ शिकारी कुत्तों की देखभाल करने में भी ये माहिर होते हैं। ये अद्‌भुत दंबोरा (एक परंपरागत अफगानी वाद्ययंत्र) वादक होते हैं। जोगी समुदाय अफगानिस्तान का सबसे वंचित समुदाय है।"[7]

इससे पता चलता है कि सामान्य अफगान स्त्रियों के विपरीत, जोगी स्त्रियां घर की चारदीवारी में सिमटी हुई नहीं हैं। अन्य अफगान स्त्रियों की तरह वे परदे की भी अधिक पाबंद नहीं हैं। यहाँ भारत में हम देखते हैं कि जोगी स्त्रियां परिवार की खेतीबाड़ी का ध्यान रखती हैं और जोगी सारंगी या इकतारा बजा-बजा कर लोगों से दान मांगते हैं। ऐसा मुसलमान जोगी करते हैं। अधिकतर हिंदू जोगी मुसलमान जोगियों की तरह गृहस्थ नहीं होते। शायद इसीलिए जॉर्ज वेस्टन ब्रिग्स मुसलमान जोगियों को रास्कली बेगर यानी "धूर्त भिखारी" कहते हैं।[8] अफगानी जोगियों के वाद्ययंत्र दंबोरा की बात करें तो यह सारंगी और इकतारा की तरह ही होता है। भारत और पाकिस्तान के जोगी सारंगी और इकतारे पर भर्थरी (भर्तृहरि), पूरन भगत और ऐसे ही अन्य पात्रों के जीवन के गीत गाते हैं, जो गुरु गोरखनाथ से संबंधित होते हैं। इसी आलेख में एक असाधारण दंबोरा वादक रंगीन के बारे में बताया गया है। उन्होंने अफगानिस्तान के शिबर्गान राज्य में आयोजित अखिल अफगानिस्तान दंबोरा प्रतियोगिता में भाग लेकर प्रथम स्थान प्राप्त किया था। कुछ समय बाद ऐसी ही एक प्रतियोगिता उज्बेकिस्तान में रखी गई। अफगानिस्तान से पाँच प्रतियोगी आमंत्रित किए गए जिनमें रंगीन भी थे। परंतु रंगीन के पास तजकिरा नहीं था इसलिए उन्हें पासपोर्ट नहीं मिल पाया।[9]

भ्रांतियां

जोगियों के मूल स्थान को लेकर एक भ्रांति जैसी स्थिति बनी हुई है और यही उनकी बदहाली का कारण है। कुछ लोगों का मानना

पहली शताब्दी ई.पू. का टिल्ला जोगियां मंदिर परिसर
साभार: https://en.wikipedia.org/wiki/Tilla_Jogian#/media/File:Hindu_Temple_at_Tilla_Gogian.jpg

है कि जोगी ताजिकिस्तान से अफगानिस्तान चले आए और कुछ कहते हैं कि वे अजरबैजान से आए थे। कुछ अन्य लोग उन्हें बुखारा से आया हुआ मानते हैं।[10] अधिकतर विद्वानों का मानना है कि वे लगभग सौ से 250 वर्ष पूर्व अफगानिस्तान आए थे। ऐसा लगता है कि युद्ध की विभीषिका से पीड़ित एक सीमांत क्षेत्र में रहते-रहते जोगी तंग आ गए और वहां से पलायन कर गए लेकिन उसके बाद वे किसी अजनबी देश में बस भी न पाए। सरकारी कर्मचारियों का कहना है कि ऐसा कोई सरकारी और ऐतिहातिक दस्तावेज उपलब्ध नहीं है जिससे पता चल सके कि जोगी स्थानीय निवासी रहे हैं, पर अभी भी इस संबंध में अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं कि गोरखनाथ संप्रदाय का संबंध गंधार क्षेत्र से रहा है। वर्तमान में प्राचीन गंधार महाजनपद का एक भाग पाकिस्तान और दूसरा अफगानिस्तान में है। भगवान श्रीराम और बुद्ध के बाद गुरु गोरखनाथ ही हैं जो समूचे भारतीय प्रायद्वीप का उत्तर-पूर्व से गंधार और तुषारदेश (सुदूर पूर्व में वर्तमान अफगानिस्तान) और यहां तक कि तिब्बत और नेपाल से श्रीलंका तक एकीकरण करते हैं। गोरखनाथ ने जिस नाथपंथ की स्थापना की थी वह ऐसा एकमात्र पंथ है जिसमें संन्यासी होते हैं तो गृहस्थों के लिए भी उसके दरवाजे खुले होते हैं, हिंदू तो होते ही हैं पर मुसलमानों के आने पर भी कोई पाबंदी नहीं है। नाथ पंथ के अनुयायी हिंदू हों या मुसलमान, कहलाते जोगी ही हैं।

भारत में जोगी, जो कि शैव हिंदू होते हैं, जाति और धर्म की सीमाओं से ऊपर माने जाते हैं और इसमें बुरा मानने जैसा कुछ नहीं है। यह इसलिए होता है कि संन्यासियों के लिए एक ऐसी व्यवस्था निर्धारित की गई है जिसमें उन्हें सांसारिकता, वर्ण और कर्मकांड से परे माना गया है। हालांकि अफगानिस्तान में जोगियों के बच्चों के साथ दूसरे बच्चे खेलना पसंद नहीं करते, चाहे स्कूल हो या कोई और स्थान। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि जोगियों का अफगान समाज में कोई रुतबा नहीं है। वस्तुत: ऐसा माना जाता है कि उनका कोई मजहब ही नहीं है और इसलिए कोई इज्जत भी नहीं है।[11]

जब हम विभिन्न रिपोर्टों में शामिल किए गए जोगियों के नामों पर ध्यान देते हैं (अफगानिस्तान में), तो पाते हैं कि उनमें से अधिकतम के नाम मुसलमानों जैसे हैं। इतना ही नहीं उन्हें एक जातिगत समुदाय के रूप में सुन्नी मुसलमानों की श्रेणी में भी रखा गया है।[12] फिर भी उन्हें किसी भी मजहब के अंतर्गत नहीं माना जाता। ऐसा क्यों किया जाता है, इस बारे में कोई रिपोर्ट कुछ नहीं कहती। उनकी सामाजिक और कानूनी स्थिति, व्यवसाय, नम्र और शांतिप्रिय स्वभाव के बारे में तो बताया गया है, परंतु उनके पंथ और पूजा पद्धति के बारे में कुछ नहीं कहा गया। हम रोजी-रोटी कमाने के उनके तरीकों को देखें तों पता चलता है कि वे हस्तरेखाएं पढ़ते हैं, भीख मांगते हैं, घोड़े पालते हैं, दंबोरा बजाते हैं और सपेरों का काम भी करते हैं और यही काम भारत, नेपाल और पाकिस्तान के जोगी भी करते हैं।

जोगियों का जाट मूल

वास्तविकता को जानने के लिए हमें अतीत में जाना होगा। जोगियों के बारे में बताते हुए एच.ए.रोज लिखते हैं, "उपाख्यानों के अनुसार पेशावर के गोरखत्री नामक स्थान को गोरख के साथ जोड़ा जाता है और एक समय ऐसा था जब यहां जोगियों का गढ़ हुआ करता था, जैसा कि बाबर और अबुल फजल दोनों ने ही लिखा है। उत्तर पश्चिम में जोगियों का मुख्य संत पेशावर का पीर रतननाथ है और इस जिले में तथा काबुल और खुरासान में एक कबित्त प्रचलित है जो उसकी शक्ति की व्याख्या करता है।"[13] रोज आगे लिखते हैं, "पीर रतननाथ के शिष्य कानों में मुद्रा (मुनरा या कुंडल) नहीं पहनते। यह परंपरा उस समय से शुरू हुई जब 12 पंथों के जोगी टुकड़ा परंपरा के निर्वाह के लिए टिल्ला (टिल्ला जोगियां अब पाकिस्तान के पंजाब प्रांत में है) में इकट्ठे हुए। वहाँ रतननाथ, जिन्होंने कानों में मुद्रा यानी कुंडल नहीं पहन रखे थे, को आधा ही भाग यानी टुकड़ा दिया गया। रतननाथ ने यह कहते हुए विरोध किया कि जिस जोगी के हृदय में कुंडल स्थित हों उसे कान में पहन कर क्या करना! तब उन्होंने सीना चीर कर अपना हृदय दिखा दिया जिसमें मुद्रा साफ दिखाई दे रही थी। उसी दिन से उनके शिष्य भी कानों में मुद्रा नहीं पहनते। उनका संबंध नाथ पंथ के भीतर के ही दरियानाथी पंथ से भी जोड़ा जाता है परंतु मियानी, शाहपुर में स्थित पीर रतननाथ के डेरे को बैराग-के-जोगी संभालते हैं।"[14]

सभी जानते हैं कि एक देश के रूप में अफगानिस्तान उन्नीसवीं शताब्दी में अस्तित्व में आया। प्राचीन काल में यह क्षेत्र भारतवर्ष और तुषारदेश के गंधार जनपद के रूप में जाना जाता था। वर्तमान में पेशावर पाकिस्तान में अफगानिस्तान की सीमा पर है। चूंकि गोरखनाथियों या जोगियों के दरियानाथी पंथ की मुख्य गद्दी यहीं पर स्थित है इसलिए इसी क्षेत्र पर उनका अधिक प्रभाव होना स्वाभाविक है। पाकिस्तान और अफगानिस्तान में यह प्रभाव अभी भी देखा जा सकता है। ये जोगी कनफटों की भांति कुंडल या मुद्रा धारण नहीं करते। इनके धार्मिक चिन्हों और परंपराओं की गहराई में न तो अखबारों के संवाददाता गए और न ही शोधकर्ता। इसलिए इनकी अलग पहचान सामने न आ पाई। जैसा कि हम देखते हैं कि अनेक जातीय समुदाय जैसे जोगी, जलाली, पिक्राग, शेख मोहम्मदी और शादीबाज जाटों की श्रेणी में रखे गए हैं और जाट का उच्चारण यहाँ जोट भी होता है फिर भी यह जानना उचित रहेगा कि अन्य दस्तावेजों में इनके जाट मूल के बारे में क्या कहा गया है।[15]

हम फिर से एच. ए. रोज के प्रामाणिक शोधकार्य की ओर आते हैं जिन्होंने जोगियों के न केवल जाट, अपितु मुसलमान समुदायों के बारे में भी बताया है, "बच्छोवालिया मुसलमान जोगियों का एक समुदाय है और वे लोग किसी गज्जन जाट से अपनी उत्पत्ति मानते हैं। पर उनके एकाधिक हिंदू गोत (पांधी, चहीतच,

उपाख्यानों के अनुसार पेशावर के गोरखत्री नामक स्थान को गोरख के साथ जोड़ा जाता है और एक समय ऐसा था जब यहां जोगियों का गढ़ हुआ करता था, जैसा कि बाबर और अबुल फजल दोनों ने ही लिखा है। उत्तर पश्चिम में जोगियों का मुख्य संत पेशावर का पीर रतननाथ है और इस जिले में तथा काबुल और खुरासान में एक कबित्त प्रचलित है जो उसकी शक्ति की व्याख्या करता है

गोरखत्री: एस. एम. जाफर ने इसकी पहचान एक हिंदू धर्म स्थल के रूप में की थी जहां हिंदू लोग अपना मुंडन संस्कार करवाया करते थे
साभार: https://hindulinebengal.wordpress.com/2010/08/06/gor-khatri-peshawar-ancient-gorakshnath-temple-and-place-of-pilgrimage-of-the-yogis-and-hindus-of-pakistan/

गिल, सिन्धु और राठौर) होते हैं। हिंदुओं की तरह ही वे भी अपने गोत्र से बाहर ही विवाह करते हैं।"[16] रोज उनके व्यवसाय के बारे में भी बताते हैं, "वे इतिवृत्तकार (इतिहास के मौखिक प्रस्तोता) और चारण का कार्य करते हुए भिक्षाटन करते हैं। वे एक झोली लेकर चलते हैं और दो अलग-अलग रंगों के दुपट्टों से बनी पगड़ी पहनते हैं। यही उनकी विशिष्ट पोशाक है।"[17]

धर्मांतरण के संकट

धर्मांतरण किस प्रकार से लोगों को अपने जन्मस्थान और सांस्कृतिक जड़ों से अलग करता है एच. ए. रोज इसकी कथा भी कहते हैं। बच्छोवालिया जोगियों के बारे में बताते हुए वे कहते हैं, "वे मूलत: हिंदू थे और इस्लाम कुबूल करने के बाद भिक्षा मांगकर जिंदगी गुजारने लगे। उनका नाम निस्संदेह हिंदी शब्द भिच्छा अर्थात भिक्षा से लिया गया है हालांकि अपने नाम की व्याख्या करने के लिए उनके पास एक कथा है जिसके आधार पर वे कहते हैं कि उनके पूर्वज किसी कुम्हार के बच्छे यानी बछड़े को चराते थे। इस कथा का तालमेल उनकी सामाजिक संरचना से नहीं बैठता क्योंकि वे एक ही गोत्र के नहीं हैं, पर इस तथ्य का संकेत जरूर मिलता है कि प्राचीन काल में वे पृथ्वीपूजक अवश्य रहे होंगे।"[18] वैसे पृथ्वी के प्रति उनकी असाधारण श्रद्धा इस उक्ति से स्पष्ट होती है। मिट्टी का आसन, मिट्टी का बासन, मिट्टी का सिरहाना, मिट्टी का बाना।[19] तो धर्मांतरण के बाद भी, अपने धार्मिक व्यवहार में वे अपनी जातीय परंपरा से जुड़े रहे हैं। लगता है कुम्हार और बछड़े की कथा इनके बीच उन लोगों ने प्रचारित की है जिन्होंने इनका धर्म परिवर्तन किया था। इन लोगों से जब इस्लाम कुबूल करवाया गया होगा तो धर्मांतरण करने वालों ने इनके समुदाय से इनकी प्रगाढ़ता को देखकर, इस्लाम स्वीकार कर चुके समुदाय तक ही इन्हें सीमित रखने के लिए यह आख्यान गढ़ा होगा। यह आख्यान पीढ़ी दर पीढ़ी चलता चला आया और इसी झूठे आख्यान के चलते जोगी मानते रहे कि वे अपने समुदाय से अलग हैं, मुसलमान हैं।

जिन लोगों का धर्मपरिवर्तन होता है वे अपने अपने इतिहास को बहुत लंबे समय तक सहेज नहीं पाते। विशेषकर खानाबदोशों के लिए तो यह और भी कठिन होता है। अत: यह भी संभव है कि अफगानिस्तान में रहने वाले जोगी अपनी उत्पत्ति की कथा को विस्मृत कर चुके हों। इस विस्मृति का कारण तीन से चार शताब्दियों तक फैली वह कालावधि है जिसके दौरान उन्होंने असीम यातनाएं झेली थीं। अंग्रेजी शासन के दौरान अफगानिस्तान को एक अलग देश बनाने के बाद से ही अफगानिस्तान संकटग्रस्त रहा है। इसने विश्वयुद्ध के अतिरिक्त भी अनेक युद्धों, शीतयुद्ध और तालिबानी उग्रवाद को झेला है। ऐसी स्थिति में जोगी अपनी संस्कृति की मूल भूमि से संपर्क न रख पाए और इस क्षेत्र में लंबे समय तक युद्ध चलता रहा। विभिन्न आक्रमणों से स्वयं को बचाना और अन्य धर्मों के अनुयायियों की धौंस को सहन करना उनके लिए असंभव हो गया और पलायन करने के अतिरिक्त उनके पास कोई चारा न रह गया। जहां जिसका सींग समाया वह वहीं चला गया परंतु नये स्थानों से जुड़ना उनके लिए संभव न हो पाया और जब भी, जैसे भी संभव हो पाया वे अपनी जन्मभूमि में ही लौटे। उन्हें अनेक बार विस्थापन झेलना पड़ा और यह भी अपने अतीत के भूल जाने का कारण हो सकता है। परंतु अपनी प्रतिभा और पूर्वजों की परंपराओं के वे नहीं भूले। वर्तमान में भी पाकिस्तान में जोगियों का धर्मांतरण जारी है। पाकिस्तान के सिन्ध प्रांत के जोगियों के बारे में बताते हुए योगिंदर सिकंद टाँडो अल्लायार के एक वृद्ध जोगी के हवाले से कहते हैं, "जोगी नाथपंथी होते हैं, परंपरा से ही उस शिव के उपासक जो लगभग हमेशा ही सांपों के साथ चित्रित किए जाते हैं। सिंध के अधिकतर जोगी हिंदू हैं। कुछ मुसलमान हो गए हैं परंतु अन्य नाथों के साथ उनके संबंध सौहार्दपूर्ण हैं। वे खानाबदोश हैं और सांपों की तलाश में कई-कई दिनों तक यात्रा करते हैं और इस दौरान सर्पदंश के रोगियों की चिकित्सा भी करते हैं।"[20]

इसी तरह की खानाबदोश जिंदगी अफगानिस्तान के जोगी भी जी रहे हैं और उनका जीवन भी हाशिये पर धकेल दिया गया है। पाकिस्तान में जोगियों को दलित माना जाता है और सिकंद अपने एक मित्र खुर्शीद खेमकानी, जो एक विख्यात लेखक और सामाजिक कार्यकर्ता हैं, के हवाले से बताते हैं, "आम तौर पर सिंध के तथाकथित उच्च जाति के हिंदू, अनेक मुसलमानों की तरह, अपने समुदाय के दलितों की कोई फिक्र

नहीं करते।"[21] जोगी भी अनेक उपजातियों में बंटे हुए हैं जिनमें से निम्न जाति के जोगियों के साथ उठना-बैठना और खाना-पीना अच्छा नहीं माना जाता। इस कुप्रथा के चलते सिंध प्रांत में सबसे बड़ा अल्पसंख्यक समुदाय[22] होने के बावजूद वे बंटे हुए हैं और अपने सामूहिक हित के लिए एकजुट होकर काम नहीं कर पाते। संभवत: हिंदुओं में एकता के इसी अभाव के फलस्वरूप पाकिस्तान और अफगानिस्तान में इनके अनेक तीर्थस्थल नष्ट होने के कगार पर आ गए हैं।

गुरु गोरखनाथ की जन्मस्थली

इन स्थितियों को छोड़ दिया जाए तो एक ऐसा समय भी रहा है जब समूचा गंधार क्षेत्र गुरु गोरखनाथ और उनके परवर्तियों द्वारा प्रसारित ज्ञान से आलोकित था। उपाख्यानों के अनुसार अफगानिस्तान के साथ लगने वाले पेशावर को भी गुरु गोरखनाथ के जन्मस्थलों में गिना जाता है। क्रुक और ग्रियर्सन एक ऐसे उपाख्यान के बारे में बताते हैं जिसके अनुसार गोरखनाथ ने सतयुग में पंजाब (अब पाकिस्तान) के पेशावर नगर में, त्रेतायुग में गोरखपुर (उत्तर प्रदेश) में, द्वापर युग में द्वारका (गुजरात) के निकट हरमुज में और कलिकाल में काठियावाड़ (गुजरात) की गोरखमढ़ी में जन्म लिया था।[23] गोरखपुर के महंत ने नागेन्द्रनाथ उपाध्याय को बताया था कि गोरखनाथ झेलम (पाकिस्तान में तक्षशिला के निकट, यह स्थान गंधार का भाग रहा है) से गोरखपुर आए थे।[24] नासिक के जोगियों के अनुसार गोरखनाथ नेपाल से पंजाब और फिर नासिक आए। नेपाली परंपरा में भी स्पष्ट है कि वे पंजाब से नेपाल गए थे। डॉ. मोहन सिंह का मानना है कि वे गोरखपुर नाम के गांव में पैदा हुए थे जो पेशावर के पास रावलपिंडी जिले में है।[25] डॉ. रांगेय राघव भी इसी मत का समर्थन करते हैं यद्यपि वे मानते हैं कि स्थान का नाम गोरखपुर उनके जन्म के बाद ही रखा गया।[26] विश्वसनीय स्रोतों के आधार पर डॉ. वेदप्रकाश जुनेजा इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि भारत के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में ही गुरू गोरखनाथ की जन्मस्थली रही है। अत: यही मानना उचित रहेगा कि पेशावर के निकट ही किसी गांव में उनका जन्म हुआ था।[27]

गोरखनाथ के समय को लेकर विद्वानों में काफी मतभेद है। विभिन्न विद्वान सातवीं शताब्दी से लेकर पंद्रहवीं शताब्दी के आरंभ तक गोरखनाथ का समय मानते हैं। नेपाल में उपलब्ध विभिन्न पंथों की परंपराओं और राजनीतिक तथा धार्मिक तथ्यों के आधार पर डॉ. शहीदुल्ला मानते हैं कि गोरखनाथ सातवीं और नौवीं शताब्दी के बीच पैदा हुए थे। तिब्बती और भारतीय परंपराओं के साथ-साथ भाषा के अवलोकन के बाद महापंडित राहुल सांकृत्यायन गोरखनाथ का समय सिद्ध परंपरा के अनुसार गोरक्षपा के रूप में 845 ई. मानते हैं। अपनी 1902 की रिपोर्ट में नागरी प्रचारिणी सभा ने गुरु गोरखनाथ के समय को 15वीं शती ई. के आसपास बताया है।[28]

इस समूची कालावधि में पेशावर गंधार महाजनपद का एक प्रमुख नगर था और पुरुषपुर के नाम से जाना जाता था। गंधार के अन्य प्रमुख नगर थे तक्षशिला (पाकिस्तान के पंजाब प्रांत में स्थित जिसे अब अंग्रेजी में टक्सिला लिखते हैं), पुष्कलावती (पाकिस्तान के खैबर पख्तूनख्वा प्रांत में वर्तमान चारसद्दा), उद्भांडपुर (खैबर पख्तूनख्वा प्रांत में वर्तमान हुंड), और कपिशा (काबुल से 25 कि.मी. की दूरी पर स्थित बैग्राम)। एक समय ऐसा था जब गंधार का शासन कपिशा से ही चलता था। अभी भी काबुल अफगानिस्तान की राजधानी है। एक ऐसा समय भी रहा है जब महाजनपद का शासन तक्षशिला से चलाया जाता था।

निश्चित रूप से यह समय पूर्व मध्यकाल (8वीं से 13वीं शताब्दी ई.) का ही रहा होगा जब गुरु गोरखनाथ ने समाज में अपने अध्यात्म और योग संबंधी विचारों का प्रतिपादन तथा अपने पंथ का प्रवर्तन किया। यही वह समय भी है जब उनके दर्शन ने संपूर्ण भारत में अपनी जड़ें जमाई। यही कारण है कि उनके नाम पर गुफाओं और मठों के रूप में कई स्मारक पूरे भारत में पाए जाते हैं। यह 18वीं शताब्दी ई. तक हिंदुओं और मुसलमानों दोनों को प्रभावित करने वाले एक विचार और एक जीवनशैली के रूप में गंधार के साथ-साथ पूरे भारत में फैला। गुरु गोरखनाथ के बाद उनके कई योग्य शिष्यों और तपस्वियों ने भी उनके संदेश को समाज के हर वर्ग तक पहुँचाने के लिए अथक परिश्रम किया।

टिल्ला जोगियां की प्रमुख गद्दी

नाथ संप्रदाय की एक प्रमुख गद्दी टिल्ला जोगियां तक्षशिला से 73 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। ब्रिग्स लिखते हैं, "प्राचीन काल से ही पंजाब में कनफटे जोगियों के अन्य सभी केंद्र टिल्ला के अधीन रहे हैं। गोरखपुर में जोगियों ने बताया कि अब टिल्ला ही पंथ की प्रमुख गद्दी है। टिल्ला का पीर सभी गोरखनाथियों का मुखिया है।"[29] हीर-राँझा की कथा में टिल्ला का संदर्भ आता है। राँझे की भांति अनेक मुसलमान स्वेच्छा से टिल्ला की गोरखपीठ पर आए और आध्यात्मिक उत्थान के लिए दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की। ब्रिग्स कहते हैं, "गोरखनाथ के बाद लक्पननाथ, लक्ष्मणनाथ टिल्ला की गद्दी पर बैठे। इस पंथ के दो उपसंप्रदाय हैं। नटेश्री और दरिया। इनमें अंतर यह है कि नटेश्री टिल्ला में पहाड़ी पर निवास करते हैं जबकि दरिया मैदानों में रहते हैं। दरिया टिल्ला से निकला एक अलग ही पंथ है। दूसरे उपसंप्रदाय को अमृतसर में नटेश्री कहते हैं जो होशियारपुर में दरबारी टिल्ला बाल गोंडल के नाम से जाना जाता है। यह मूल गोरखनाथियों का हेत या हेतनाथी संप्रदाय है। इसी के अंतर्गत अंबाला और झेलम जिलों के हेत और करनाल के बलजाति भी आते हैं। राँझा नटेश्री संप्रदाय से था।"[30] उपाख्यानों के बारे में बात करते हुए ब्रिग्स आगे कहते हैं कि जोगियों को लेकर ऐसे अनेक संदर्भ उपलब्ध हैं जिनमें कहा गया है कि जोगियों के कान छिदे रहते थे और वे बड़े से कुंडल पहने रहते थे। राँझा के बारे में कहा गया है कि उसका दायां कान पकी मिट्टी का और बायां कान कच्ची मिट्टी

यह समय पूर्व मध्यकाल का ही रहा होगा जब गुरु गोरखनाथ ने अपने अध्यात्म और योग संबंधी विचारों का प्रतिपादन तथा पंथ का प्रवर्तन किया। यही कारण है कि उनके नाम पर गुफाओं और मठों के रूप में कई स्मारक पूरे भारत में पाए जाते हैं। यह 18वीं शताब्दी ई. तक हिंदुओं और मुसलमानों दोनों को प्रभावित करने वाले एक विचार और एक जीवनशैली के रूप में गंधार के साथ-साथ पूरे भारत में फैला

का था।[31] यहां राँझे ने तपस्या की, इंद्रियों का शमन किया और वह कनफटा जोगी हो गया। अफगानिस्तान में ही ऐसी अनेक लोककथाएं हैं जिनमें मुसलमान स्वप्रेरणा से नाथपंथ की दीक्षा लेते हैं। इनमें से एक कथा आदम खान की है जो प्रसिद्ध पश्तून प्रेमकथा आदम खान-दुरखानी का नायक है।

अब देश-विभाजन के बाद स्थितियां पूरी तरह बदल गई हैं। टिल्ला जोगियां वीरान पड़ा हुआ है और सभी जोगी वहां से भाग गए हैं। रॉयल ज्यॉग्रफिकल सोसायटी के एक अध्येता सलमान रशीद अपने एक यात्रावृत्त में वर्तमान स्थिति को स्पष्ट करते हैं। रशीद लिखते हैं, "टिल्ला जोगियां के प्राचीन मठ की बरबादी पाकिस्तान बनने के बाद शुरू हुई। उत्पीड़न के चलते जोगियों को भागना पड़ा और टिल्ला जोगियां वीरान हो गया। वृक्षों की शीतल छांह में शांत पड़ी इस पहाड़ी पर मंत्रों की गूंज सुनाई देनी बंद हो गई, दुनियादारी छोड़कर यहाँ पनाह चाहने वाले लोग अब नहीं आते। टिल्ला जोगियां कनफटे जोगियों के महान गुरुओं का केंद्र नहीं रहा। अब तो पहाड़ी की तलहटी से कुछ गड़रिए और लकड़हारे ही यहां आते हैं। कभी-कभी शहरों से कुछ पर्यटक भी आ जाते हैं।"[32] रशीद लोगों के ओछेपन के बारे में भी बताते हैं, "एक और तरह के लोग भी यहां आते हैं, ऐसे लोग जो दुर्भावना और लोभ से भरे होते हैं। वे यहां निर्वाण प्राप्त करने के लिए नहीं आते, बल्कि दुनिया के खजाने लूटने के लिए आते हैं। खुदाई के पुराने हथियारों से वे मंदिर के फर्श को उखाड़ देते हैं, भवन के भवन ढहा देते हैं और गड़े हुए काल्पनिक खजानों की तलाश में प्राचीन समाधियों को तबाह कर डालते हैं। टिल्ला जोगियां में आने वाले ऐसा यात्री जितना लोभी होता है उतना ही मूर्ख होता है: आखिरकार जो लोग समूचे संसार को छोड़कर जोगी का जीवन जीने के लिए इस स्थान पर आए उनके अंतिम विश्रामस्थल में हीरे मोतियों का कोई खजाना कैसे छुपा हो सकता है।"

टिल्ला जोगियां के प्राचीन मठ की बरबादी पाकिस्तान बनने के बाद शुरू हुई। उत्पीड़न के चलते जोगियों को भागना पड़ा और टिल्ला जोगियां वीरान हो गया। वृक्षों की शीतल छांह में शांत पड़ी इस पहाड़ी पर मंत्रों की गूंज सुनाई देनी बंद हो गई, दुनियादारी छोड़कर यहाँ पनाह चाहने वाले लोग अब नहीं आते। टिल्ला जोगियां कनफटे जोगियों के महान गुरुओं का केंद्र नहीं रहा। अब तो पहाड़ी की तलहटी से कुछ गड़रिए और लकड़हारे ही यहां आते हैं

गैर-मुस्लिम मजहबों के प्रति भयंकर कट्टरता के बावजूद जोगियों का अस्तित्व पाकिस्तान में है और उनके मंत्र गूंजते हैं। सिंध, बलूचिस्तान और खैबर पख्तूनख्वा में अभी भी जोगियों के मठ मौजूद हैं और जहां हिंदू और मुसलमान जोगी दोनों ही हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते रहते हैं। ऐसे ही एक स्थान के बारे में जाहिद रहमान जट्ट लिखते हैं, "यही वह समय था जब मैंने शहदादपुर में गीरों (जोगियों का एक उप-समूह) की एक मढ़ी देखी। मानवविज्ञानी जुल्फिकार अली कालहोरो मढ़ी की व्याख्या नाथों के एक केंद्र या मठ के रूप में करते हैं।"[33]

अफगानिस्तान में जोगियों की संख्या एक लाख से अधिक है पर पाकिस्तान में अलग से इसका कोई हिसाब नहीं रखा गया है। यद्यपि वे गंधार के समूचे प्राचीन क्षेत्र और अन्य इलाकों में भी मौजूद हैं। वे अभी भी गुरु गोरखनाथ के मंत्रों का उच्चारण करते हैं जिनकी पवित्र गूंज उस क्षेत्र में सुनाई देती है। समाज को अभी भी अपने हित के लिए जोगियों की सेवाओं की आवश्यकता पड़ती है और इस समाज में हिंदू और मुसलमान दोनों ही आते हैं। अफगानिस्तान के जोगी जो वहां जाट या खानाबदोश कहलाते हैं अभी भी हृदय में गुरु गोरखनाथ के उपदेशों को धारण करते हैं और इन्हीं उपदेशों का असर है की आज तक किसी भी अपराध में वे लिप्त नहीं पाए गए और किसी भी जेल में एक भी जोगी पुरुष या स्त्री कैद नहीं है।[34] ■

संदर्भ संकेत

1. *http://outlookafghanistan.net/topics.php?post_id=1180*
2. *http://www.acsf.af/english/index.php?option=com_content&view=article&id=23:jo*
3. *यथा उद्धृत, वही*
4. *यथा उद्धृत, वही*
5. *https://www.refworld.org/docid/4f1512ec2.html*
6. *परवानी आर्यन, अफगान जिप्सीज वेट फॉर रिकग्नीशन, https://iwpr.net/global-voices/afghan-gypsies-wait-recognition*
7. *येचा शेर अली, आउटलुक अफगानिस्तान, जुलाई 10, 2011: http://outlookafghanistan.net/topics.php?post_id=1180" \l "ixzz5y0yZDTo6*
8. *ब्रिग्स जॉर्ज वेस्टन, गोरखनाथ एंड द कनफटा योगीज (कलकत्ता, वाइएमसीए पब्लिशिंग हाउस, 1938) पृ. 2*
9. *http://outlookafghanistan.net/topics.php?post_id=1180" \l "ixzz5y0yZDTo6*
10. *https://iwpr.net/global-voices/afghan-gypsies-wait-recognition*
11. *http://outlookafghanistan.net/topics.php?post_id=1180" \l "ixzz5y0yZDTo6*
12. *https://en.wikipedia.org/wiki/Jat_of_Afghanistan*
13. *रोज एच. ए., अ ग्लॉसरी ऑफ द ट्राइब्स एंड कास्ट्स ऑफ द पंजाब एंड नॉर्थ-वेस्ट फ्रंटियर प्रॉविंस, वॉल्यूम ।।, (प्रिंटेड एट लाहौर, सिविल एंड मिलिटरी गजट प्रेस, 1911) पृ. 407*
14. *वही, पृष्ठ 407*
15. *https://en.wikipedia.org/wiki/Jat_of_Afghanistan*
16. *रोज एच. ए., अ ग्लॉसरी ऑफ द ट्राइब्स एंड कास्ट्स ऑफ द पंजाब एंड नॉर्थ-वेस्ट फ्रंटियर प्रॉविंस, वॉल्यूम।।, (प्रिंटेड एट लाहौर, सिविल एंड मिलिटरी गजट प्रेस, 1911) पृ. 407*
17. *वही, पृष्ठ 407*
18. *वही, पृष्ठ 407*
19. *वही, पृष्ठ 399*
20. *https://www.livemint.com/Opinion/hZVuwmnGDYHeaomPgMEocL/A-bhajansinging-Jogi.html*
21. *https://www.livemint.com/Opinion/hZVuwmnGDYHeaomPgMEocL/*

A-bhajansinging-Jogi.html
22. *http://tns.thenews.com.pk/abode-jogis/*
23. *जुनेजा डॉ. वेदप्रकाश, नाथ संप्रदाय और साहित्य (गोरखपुर, श्री गोरखनाथ मंदिर, 2019) पृष्ठ 78*
24. *यथा उद्धृत, वही*
25. *वही, पृष्ठ 78-79*
26. *राघव रांगेय, गोरखनाथ और उनका युग (दिल्ली, आत्माराम एंड संस, 1963) पृष्ठ 43-45*
27. *जुनेजा डॉ. वेदप्रकाश, नाथ संप्रदाय और साहित्य (गोरखपुर, श्री गोरखनाथ मंदिर, 2019) पृष्ठ 79*
28. *वही, पृष्ठ 76-78*
29. *ब्रिग्स जॉर्ज वेस्टन, गोरखनाथ एंड द कनफटा योगीज (कलकत्ता, वाइएमसीए पब्लिशिंग हाउस, 1938) पृष्ठ 102*
30. *वही, पृष्ठ 64*
31. *वही, पृष्ठ 202*
32. *http://odysseuslahori.blogspot.com/2013/05/TillaJogian.html*
33. *http://tns.thenews.com.pk/abode-jogis/" \l ".XR3ZLz8za1s*
34. *http://outlookafghanistan.net/topics.php?post_id=1180" \l "ixzz5y108WJCt*

पश्तून लोककथाएं

यूसुफ खान और शेरबानो

स्वाबी जिले में शेवा अड्डा के पास तुर्लदी गाँव में यूसुफ खान रहा करता था। जब वह बच्चा था तभी उसके पिता का देहांत हो गया था। उसकी विधवा माँ और बहन बांदे को उसके चचेरे भाइयों ने घर से निकाल दिया था। समय के साथ वह एक बहुत ही खूबसूरत युवक और बहादुर शिकारी बना।

शेरबानो कालू खां के नजदीक शेरा गुंड गाँव की एक बेहद खूबसूरत लड़की थी। यूसुफ खान शेरबानो की झोपड़ी के सामने से रोज निकल कर खरमार की पहाड़ियों पर शिकार करने जाता था। उसके कुत्तों के गले में बंधी एक पट्टे में छोटी-छोटी घंटियां लगी थीं, जो पूरे रास्ते बजती रहती थीं। शेरबानो को यूसुफ से प्यार हो गया।

और यूसुफ खान के चचेरे भाई भी उस दिन शिकार पर गए। यूसुफ ने एक जंगली भेड़ पर तीर चलाया, मगर वह भेड़ा खरमार की चोटी से नीचे गिरा और पेड़ में अटक गया। उसके भाइयों ने उसे भरोसा दिलाया कि यूसुफ को चोटी से नीचे जाना चाहिए। उन्होंने उसकी कमर में एक रस्सी बांधी और उसे नीचे उतारने लगे। लेकिन जब वह कमर में रस्सी बांधे नीचे जा रहा था, तभी आधे रास्ते में ही उसके भाइयों ने वह रस्सी छोड़ दी और भाग गए।

अपने कुँए पर बैठी शेरबानो उसके तीनों कुत्तों को अकेले भागते देखकर हैरान हो गई और उसे लगा कि कहीं न कहीं कुछ तो गडबड है। वह भी यूसुफ की माँ और बहन बांदी के साथ वहीं दौड़ पड़ी जहाँ पर कुत्ते पागलों की तरफ भौंक रहे थे। जब वह चोटी पर पहुंचे तो उन्होंने यूसुफ को घायल हालत में पेड़ पर लटका हुआ देखा। उन सभी औरतों ने गांववालों की मदद से उसे किसी तरह खींचा और जब तक उसे ले जाने के लिए लकड़ी तैयार की गई तब तक शेरबानो अपने प्रेमी का सिर अपनी गोद में रखकर रोती रही।

यूसुफ हालांकि पूरी तरह ठीक नहीं हुआ था, मगर जल्द ही उसने शेरबानो से शादी कर ली। यूसुफ के घाव भर जाने के बाद वह अपने भाइयों से बदला लेने के लिए बेचैन हो गया। मगर उसे किसी ने गलत खबर दी कि उसके चचेरे भाई दिल्ली चले गए हैं। उसने अपनी खूबसूरत बीवी को छुआ भी नहीं और दिल्ली चला गया। उसने शेरबानो से कहा कि या तो वह बदला लेकर आएगा या फिर उसकी लाश आएगी।

यह दिन शेरबानो और यूसुफ खान की बहन और माँ के लिए सरल नहीं थे। एक दिन शेरबानो के पिता उसके घर आए और उन्होंने अपनी पगड़ी उसके पैरों पर रख दी और उससे गाँव के किसी आदमी से शादी करने के लिए कहा। शेरबानो ने कहा कि वह एक साल तक इंतजार करेगी और उसके बाद जिससे कहेंगे वह शादी कर लेगी। इसी बीच यूसुफ खान एक ऐसे गाँव पहुंचा जो डकैतों से त्रस्त था, युसूफ ने उन डकैतों से उन गांव वालों को मुक्ति दिलाई। उसकी बहादुरी के चर्चे अकबर तक पहुंचे और उसने उसे दिल्ली बुला लिया।

युसूफ ने अकबर को अपने इतिहास के बारे में बताया। अकबर ने उसके साथ कुछ सेना भेजी और वह लोग उसके गाँव की तरफ चले। मगर जब वह गाँव पहुंचे तो उसने अपने घर में सन्नाटा पाया। उसने पूछा तो पता चला कि उसके घर में जो लोग थे उन्हें उसके चचेरे भाइयों ने गुलाम बना लिया है और जो शादी के ढोल बज रहे हैं, वह उसकी पत्नी की शादी के ढोल हैं।

यह सुनते ही युसूफ ढोल की दिशा में गया, उसने अपनी बहन बांदी को देखा। भाई को देखते ही उसका उदास चेहरा खिल गया। उसने एक छोटे बच्चे को एक टोपी दी, जो शेरबानो ने उसके लिए सिली थी, कि दुल्हन तक पहुंचा दे। शेरबानो अपनी किसी भी सहेली को न ही बाल छूने दे रही थी और न ही सिंगार करने दे रही थी। जैसे ही उसके हाथ में वह टोपी आई वैसे ही वह रोने लगी और उसने खुद को खुशी से तैयार कर लिया।

युसूफ ने अपनी सेना को आदेश दिया कि किसी को छोड़ना नहीं हैं। मगर उसके भाइयों की बीवियां दया की भीख मांगने लगीं और शेरबानो ने भी दया दिखाने की गुजारिश की। युसूफ ने उन्हें माफ कर दिया, मगर यह माफी उसे बहुत महंगी पड़ी क्योंकि कुछ दिन बाद ही उसकी लाश पहाड़ी पर मिली। यह नहीं पता चला कि उसे आखिर किसने मारा!■

पश्तो भाषा की बोलियों और संस्कृत के बीच प्राचीन स्वनिक संबंध

प्रो. मोहम्मद अनवर ख़ैरी
साथ में
अनिल कुमार आर्य
सुनीत भारद्वाज

इस शोधपत्र में हमारा प्रयास है भारत और अफगानिस्तान के कुछ समुदायों में अभी भी मौजूद प्राचीन भाषा वैज्ञानिक संबंधों की निरंतरता का परीक्षण और विश्लेषण करके उसकी पुष्टि करना।

हम आरंभ करते हैं पश्तो भाषा के स्वनिम 'ښ' से जिसे पश्तो भाषा कि कंधारी (अब्दाली) बोली में نږيښ [ʂ] (K) षीन उच्चरित किया जाता है। पश्तो भाषा की कई अन्य बोलियों में इसे [x̌in] उच्चरित किया जाता है तो मध्य अफगानिस्तान की बोलियों (गल्जी) में (ʂ) और नंग्रहारी (यूसुफजई) में (N) [xin] /१। अंतरराष्ट्रीय स्वनिकीय वर्णमाला (इंटरनेश्नल फोनेटिक अल्फाबेट) के अनुसार इसके स्वनिकीय प्रतीक हैं- [ʂ] (K) / [ç] (S) / [x](N)। 'ښ' अक्षर, जिसके लिए 'ʂ' प्रतीक का प्रयोग होता है वह उच्चारण में 'अघोष मूर्धन्य संघर्षी' है। बिल्कुल समान स्वनिक गुणों वाला एक अक्षर पश्तो भाषा के इतिहास से भी प्राचीन, संस्कृत व्याकरण के पुराने दस्तावेजों में मिलता है जिसका उच्चारण स्थान भी बिलकुल समान है, जैसा कि प्राचीनतम वैयाकरणों में से एक पाणिनि ने अपनी कृति 'वर्णोच्चारण शिक्षा'[1] में बताया है। वरदराजाचार्य की 'लघुसिद्धांत कौमुदी' के एक सूत्र[2] में कहा गया है कि 'ऋटुरषाणाम् मूर्धा'। संस्कृत अक्षर - (ऋ ṛ), (ॠ ṛː), (ट ʈ), (ठ ʈʰ), (ड ɖ),(ढ ɖʰ), (ण ɳ), (र r) और (ष ʂ) मूर्धा से उच्चरित होते हैं। यहां हमारा अनुमान यह है कि पश्तो 'ښ' का स्वनिकीय स्रोत संस्कृत अक्षर 'ष' में है। हमारा एक प्रमुख कार्य है पश्तो 'ښ' और संस्कृत (ष ʂ) भाषा वैज्ञानिक गुणों, उच्चारण स्थान और उच्चारण प्रयत्न की तुलना करना और उनका संबंध स्वनिकीय प्रतीक 'ʂ' से जोड़कर उन्हें "अघोष मूर्धन्य संघर्षी" के रूप में रेखांकित करके स्वीकृत भाषा विज्ञान के भीतर स्थापित करना ताकि पश्तो 'ښ' की उत्पत्ति संस्कृत (ष ʂ) से दिखाई जा सके और पश्तो की बोलियों और संस्कृत में उच्चारण के क्षेत्रीय स्वनिकीय परिवर्तनों का अध्ययन किया जा सके।

गंधार ने भारतवर्ष का सीमावर्ती क्षेत्र होने के नाते केवल प्रहरी की अपनी मुख्य भूमिका ही नहीं निभाई, बल्कि सांस्कृतिक एकीकरण का भी यह एक प्रमुख केंद्र रहा है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण संस्कृत और पश्तो के बीच के संबंधों के रूप में देखा जा सकता है

पश्तो भाषा में स्वनिम का स्थान

अफगानिस्तान की दो राज/राष्ट्रभाषाएं हैख़पश्तो और दारी (फारसी दारी)। लेकिन अफगानिस्तान में पश्तून बहुसंख्यक हैं और उनमें से अधिकतर पश्तो भाषा बोलते हैं। यह भाषा पश्तूनख्वा, कश्मीर और संसार के अनेक भागों में बोली जाती है।[3] पश्तो और संस्कृत सजातीय भाषाएं हैं और दोनों के बीच आश्चर्यजनक समानताएं हैं। जैसे:

1. दोनों ही भाषाओं में मूर्धन्य स्वनिम की उपस्थिति है।
2. दोनों ही भाषाओं में लिंगानुसार शब्दों में परिवर्तन होता है।
3. सकर्मक और अकर्मक क्रियाओं जैसे व्याकरणिक बिंदुओं पर दोनों ही भाषाओं में अद्‌भुत साम्य है।
4. पश्तो के अनेक शब्दों की संस्कृत शब्दों से प्रत्यक्ष समानता दिखाई देती है।
5. मुहावरे और कहावतें पश्तो में भी हैं और संस्कृत में भी।
6. दोनों भाषाओं के सांस्कृतिक अर्थों की स्थिति भी ऐसी ही थी।

इन सभी बिंदुओं पर अलग-अलग शोध करने की अपार संभावनाएं हैं। यहां हम स्वरशास्त्र में एक स्वनिम ښ [ʂ] पर विचार कर रहे हैं। पश्तो भाषा में 36 अक्षर हैं जिनमें 7 स्वर और अन्य व्यंजन हैं। ښ [ʂ] पश्तो वर्णमाला का 20वां अक्षर है और अलग-अलग बोलियों में इसके अलग-अलग उच्चारण हैं। परंतु उच्चारण, प्रयत्न और उच्चारण स्थान की दृष्टि से कांधारी बोली में यह अक्षर बिल्कुल वैसा ही है जैसा संस्कृत और अवेस्ताई भाषाओं में। जैसे मषया ښايم (maṣyā) का अर्थ है 'पति' और षाता ښاد (Ṣātā) का अर्थ 'प्रसन्न'। इस स्वनिम का मूल भारोपीय भाषाओं की शाखाओं में है और यह अफगानिस्तान की अन्य भाषाओं में भी मौजूद है-जैसे कुछ पहाड़ी भाषाओं में, जो अफगानिस्तान के उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों के पहाड़ों में रहने वाले बहुत छोटे समुदाय में बोली जाती हैं।

1-शिगनी भाषा : रष्त (उड़ना)
2-संगलिची भाषा : गोश (चारों कोने)
3.वाक्सी भाषा : यार्ष (सक्रियता)
4-अश्काशिमी भाषा : जष्त (अपशकुन)
5-मुन्जी भाषा : वीष (रस्सी)
6-नूरस्तानी भाषा : षषला (कोमल)

रूसी और यूक्रेनी भाषा में भी 'षतो' (रूसी और यूक्रेनी दोनों में ही इसका अर्थ है-क्या) जैसा शब्द है। इस स्वनिम का उच्चारण स्थान तालु है और जीभ तालु की ओर मुड़ती है जिससे उत्पन्न घर्षण से ध्वनि का घोष नहीं होता और यह अघोष व्यंजन हो जाता है। पश्तो भाषा में छः स्वनिम हैं जिन में जीभ तालु की ओर मुड़ती है:

1- ټ= ṭ, koṭa कोट (पश्तो और संस्कृत दोनों में ही अर्थ है दुर्ग यानी किला।
2- ډ= ḍ, ḍār डार
3- ړ = ṛ, ṛund रुंद (अंधा)
4- ڼ = ṇ, raṇa रण (प्रकाश)
5- ږ = ẓ, koẓ कोज (टेढ़ा, लकड़बग्घा)
6- ښ = ʂ, ūʂ उष (ऊंट)

पश्तो में स्वनिम षीन x̌in (ښ, ʂ) का प्रयोग शब्द के आरंभ, मध्य और अंत में होता है, जैसे :

1- संज्ञा : संज्ञा के आरंभ में -
जैसे - ʂār षार (नगर), ʂāīsta षाइस्ता (सुन्दर), ʂāx षाख़ (शाखा)
2- शब्द के मध्य में -
जैसे- wāʂə वाष्ह (घास), pʂa (विवज), bālʂ बालिष (तकिया)
3 - शब्द के अंत में -
जैसे- ghāʂ गाष(दाँत), laʂ लाष (मृत शरीर), brīʂ ब्रिष (चमक)

क्रियाओं में भी इस स्वनिम का प्रयोग होता है:

जैसे- kʂəl कषल (लिखना), muʂl मषल (मालिश करना), čʂl चषल (पीना)

संस्कृत भाषा-विज्ञान में व्यंजन ष(ʂ) के संदर्भ :

पाणिनि के अनुसार मानव शरीर में ध्वनि के आठ उद्गमस्थल हैं-

1-उरः - वक्ष
2- कण्ठः - गला
3-शिरः - सिर
4- जिह्वामूलम् - जीभ का मूल
5- दन्ताः - दांत
6- नासिका - नाक
7- ओष्ठौ - होंठ
8- तालु - तालु

पाणिनीय शिक्षा के अनुसार

"अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कंठः शिरस्तथा
जिह्वामूलम् च दंताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च"[4]

ध्वनि के उच्चारण के आठ स्थल हैं- वक्ष, गला, सिर, जीभ का मूल, दांत, नाक, होंठ और तालु।

संस्कृत व्याकरण के अनुसार व्यंजनों की तीन श्रेणियां हैं:

स्पर्श- व्यंजन का उच्चारण करते हुए मुंह के दो भाग जुड़ जाते हैं और हवा बाहर नहीं निकलती।

अन्तःस्थ- मुंह के अंदर से उच्चरित होने वाले व्यंजन।

उष्म- उच्चारण के समय हवा मुंह में किसी जगह से घर्षण करती हुई निकलती है।

व्यंजन का प्रथम उल्लेख पाणिनि की कृति **वर्णोच्चार शिक्षा** के निम्नलिखित श्लोक में मिलता है:

"ऋटुरषा मूर्धन्याः"[5]

इसका अर्थ है कि संस्कृत व्यंजन समूह (ऋ ṛ), (ॠ ṛː), (ट ʈ), (ठ ʈʰ), (ड ɖ),(ढ ɖʰ), (ण ɳ), (र *r*) और (ष ʂ) का उच्चारण तालु के ऊपर मूर्धा से होगा। अपनी कृति 'लघुसिद्धांत कौमुदी'[6] में वरदराजाचार्य बताते हैं कि श (IPA - ɕ, IAST- ś), ष (IPA- ʂ, IAST- ṣ), स (IPA- s , IAST- s) और ल (IPA- l , IAST- l) के उच्चारण में गर्म हवा मुंह से बाहर आती है। इसी आधार पर वरदराजाचार्य ने इन्हें 'उष्ण व्यंजनों' की श्रेणी में रखते हुए सूत्र प्रतिपादित किया "शल उष्माण", क्योंकि इन व्यंजनों के उच्चारण के दौरान मुख-विवर में उत्पन्न हुए घर्षण से मुख से उष्ण वायु बाहर आती है। वैदिक उच्चारण में श (IPA- ɕ, IAST- ś), ष (IPA- ʂ, IAST- ṣ), स(IPA- s , IAST- s) और ह (IPA- ɦ, IAST- h) व्यंजनों को 'अघोष संघर्षी' कहा गया है। कपिलदेव द्विवेदी ने ह (IPA-ɦ, IAST-h) 'घोष ऊष्म' व्यंजनों की श्रेणी में रखा है। (कपिलदेव द्विवेदी, 2012, पृ. 148) व्युत्पत्तियों के ग्रंथ 'अमरकोश' में 'मूर्धा' या प्रमस्तिष्क (अंग्रेजी में सेरिब्रम) की व्युत्पत्ति बताई गई है- "मुह्यति अस्मिन् आहते इति मूर्धा"[7] अर्थात 'मूर्धा' या प्रमस्तिष्क मुख-विवर में एक ऐसा स्थान है जहां जिह्वा के प्रभाव

'मूर्धा' या प्रमस्तिष्क मुख-विवर में एक ऐसा स्थान है जहां जिह्वा के प्रभाव से व्यंजनों का विशेष उच्चारण होता है। ऐसे व्यंजनों को 'मूर्धन्य व्यंजन' कहते हैं। आधुनिक भाषाविज्ञान मूर्धन्य व्यंजनों को उन व्यंजनों के रूप में परिभाषित करता है जिनका उच्चारण दंतोलूखल कटक और कठोर तालु के बीच से किया जा सकता है। 'लघुसिद्धांत कौमुदी' की अपनी टीका में भीमसेन शास्त्री ने 'मूर्धा' को मुख विवर के भीतर तालु के पीछे स्थित कोमल स्थान पर स्थित माना है

से व्यंजनों का विशेष उच्चारण होता है। ऐसे व्यंजनों को 'मूर्धन्य व्यंजन' कहते हैं। आधुनिक भाषाविज्ञान मूर्धन्य व्यंजनों को उन व्यंजनों के रूप में परिभाषित करता है जिसका उच्चारण दंतोलूखल कटक और कठोर तालु के बीच से किया जा सकता है। 'लघुसिद्धांत कौमुदी'[8] की अपनी टीका में भीमसेन शास्त्री ने 'मूर्धा' को मुख विवर के भीतर तालु के पीछे स्थित कोमल स्थान पर स्थित माना है। इसे प्रमस्तिष्क (सेरिब्रम) कहा गया है। मोनियर विलियम्स ने इसे तालु की छत या ऊपरी हिस्से के रूप में परिभाषित किया। अनेक संस्कृत ग्रंथों में संस्कृत व्यंजन 'ष' (IPA ʂ) का उच्चारण कंठ्य व्यंजन 'ख' (IPA- k^h, IAST & kha) की तरह किया जाता है। इसका संदर्भ एक प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ 'लघुमाध्यन्दिनीया शिक्षा' में मिलता है। यह एक शिक्षा ग्रंथ है। वैदिक संस्कृत को समझने के लिए सबसे पहले इसके छह सहायक अनुशासनों का ज्ञान अपेक्षित है जिन्हें वेदांग कहा जाता है। ये वेदांग हैं :

1. **शिक्षा :** स्वनविज्ञान, उच्चारण।
2. **छंदशास्त्र :** छंदों का ज्ञान।
3. **व्याकरण :** व्याकरण और भाषावैज्ञानिक विश्लेषण।
4. **निरुक्त :** व्युत्पत्ति।
5. **कल्प :** वेदों में बताए गए कर्मों, अनुष्ठानों संबंधी क्रमपूर्वक निर्देश।
6. **ज्योतिष :** कर्मों, अनुष्ठानों के लिए शुभ मुहूर्त, और खगोलशास्त्र।

शिक्षा एक ऐसा वेदांग है जो मुख्यत: स्वनविज्ञान से संबंधित है जिसके अंतर्गत उच्चारणस्थान और प्रयत्न पर भी विचार किया जाता है। 'लघुमाध्यन्दिनीया शिक्षा' और 'केशवी शिक्षा' शिक्षा से संबंधित मूलपाठ हैं। 'लघुमाध्यन्दिनीया शिक्षा' में 'ष' (IPA- ʂ , IAST- ṣ) को "ख" (IPA- k^h, IAST- K^h) से बदलने का निर्देश दिया गया है:

"षकारस्य खकार: स्याट्टुकयोगे तु नो भवेत्"

इषे लक्ष्यं कृष्णेउक्षा समुद्र: प्रत्युदाहृति:।

एक और शिक्षा पुस्तिका 'केशवी शिक्षा' भी इसी बात पर बल देती है कि वेदपाठ के समय 'ष' को 'ख' से बदल दिया जाए:

ष: खष्टुमृते च।

पदान्तमध्ये षकारस्य खकारोच्चार: विना छन्दस्य माध्यन्दिनीये।

(केशवी शिक्षा सूत्र-3, शिक्षा संग्रह, पृ. 117)

प्रयत्न-स्थान के साथ जिह्वा के हल्के से स्पर्श से ही उच्चारण प्रयत्न की व्याख्या होती है, क्योंकि पीछे मुड़ी हुई जिह्वा से जिस संकीर्ण पथ का निर्माण होता है वह वायु के लिए एक प्रवाह-सरणि का कार्य करता है और वायु प्रयत्न स्थान पर पहुंच कर घर्षण उत्पन्न करके व्यंजन का उच्चारण पूर्ण कर देती है। इसीलिए व्यंजन का उच्चारण अघोष है क्योंकि यह स्वर तंत्रियों के कंपन से नहीं अपितु प्रयत्न स्थान पर वायु के आघात से उत्पन्न होता है और ध्वनि उत्पन्न होती है प्रयत्न स्थान और वायु के संघर्षण से

आधुनिक भाषाविज्ञान और 'अघोष मूर्धन्य संघर्षी' व्यंजन

आधुनिक भाषाविज्ञान 'ʂ' ध्वनि को 'अघोष मूर्धन्य संघर्षी' के रूप में परिभाषित करता है। अंतरराष्ट्रीय ध्वनिक वर्णमाला के अक्षर 'ʂ' को अंग्रेजी अक्षर 'एस' के नीचे एक दाईं ओर मुड़ता हुआ कांटा लगाकर लिखा जाता है जो तदनुरूप दंत्य व्यंजन के लिए प्रयुक्त होता है। प्रयत्नस्थान मूर्धन्य है जिसका अर्थ है कि इसका उच्चारण दंतोलूखल कटक और कठोर तालु के बीच से किया जाता है और उच्चारण के दौरान जीभ के आकार में परिवर्तन होता है। जीभ समतल, अवतल या मुड़ा हुआ आकार ले सकती है। मूर्धन्य के लिए अंग्रेजी में रिट्रोफ्लेक्स शब्द का प्रयोग होता है जो लैटिन मूल का शब्द है। इसका अर्थ है 'पीछे मुड़ा हुआ' क्योंकि जीभ की नोक उच्चारण के प्रयत्न में ऊपर की ओर मुड़ जाती है। इस व्यंजन के उच्चारण को लेकर जो संदेह उत्पन्न होता है उसे देखते हुए हमने एक और पद की रचना की है जो इस व्यंजन का बेहतरीन श्रेणीकरण करने के साथ ही निकटतम परिभाषा भी उपलब्ध कराता है। यह पद है-पोस्ट एल्वियोलर अनपैलेटाइज्ड कॉन्सोनेंट, अर्थात वह व्यंजन जो दंतोलूखल कटक के पिछले भाग को जीभ के छूने भर से उच्चरित होता है।इसमें कठोर तालु का स्पर्श होता ही नहीं है क्योंकि सामान्यत: तालव्य व्यंजन तभी उच्चरित होते हैं जब जीभ कठोर तालु का स्पर्श करती है और इसीलिए व्यंजन तालव्य कहलाता है। प्रयत्न-स्थान के साथ जिह्वा के हल्के से स्पर्श से ही उच्चारण प्रयत्न की व्याख्या होती है, क्योंकि पीछे मुड़ी हुई जिह्वा से जिस संकीर्ण पथ के निर्माण होता है वह वायु के लिए एक प्रवाह-सरणि का कार्य करता है और वायु प्रयत्न स्थान पर पहुंच कर घर्षण उत्पन्न करके व्यंजन का उच्चारण पूर्ण कर देती है। इसीलिए व्यंजन का उच्चारण अघोष है क्योंकि यह स्वर तंत्रियों के कंपन से नहीं अपितु प्रयत्न स्थान पर वायु के आघात से उत्पन्न होता है और ध्वनि उत्पन्न होती है प्रयत्न स्थान और वायु के संघर्षण से। प्रयत्न पूर्ण होता है और व्यंजन की ध्वनि उच्चरित होती है। इसीलिए इस व्यंजन को संघर्षी व्यंजनों के अंतर्गत रखा गया है। ■

संदर्भ संकेत

1. *संस्कृत अक्षरों के स्वरशास्त्र/उच्चारण स्थान से संबंधित ग्रन्थ।*
2. *"ऋटुरषाणां मूर्धा" ख वरदराजाचार्य, लघुसिद्धांत कौमुदी, भैमी व्याख्या, भाग-1. पृ.22।*
3. *अब्दुल हई हबीबी, पश्तो अदबियातो तारीख़, 2005*
4. *Sarif Allāh Dost, Da Kh Tārīkhī Bahīr, Tānd Website, 2019.*
5. *"अष्टौ स्थानानि वर्णानामुर: कण्ठ: शिरस्तथा। जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च"।। पाणिनीय शिक्षा, श्लोक 13*
6. *पाणिनि, वर्णोच्चार शिक्षा, अध्याय 1, नियम-12*
7. *अंतर्राष्ट्रीय ध्वनिक वर्णमाला (International Phonetic Alphabet)*
8. *अंतर्राष्ट्रीय संस्कृत लिप्यांतरण वर्णमाला (International Alphabet of Sanskrit Transliteration)*

डॉ. मो. अखलाक आजाद

गंधार में इस्लाम का आगमन

आज का अफगानिस्तान, जो प्राचीनकाल में अधिकांशत: गंधार और तुषारदेश था, कभी हिंदू और बौद्ध धर्म के प्रमुख केंद्रों में से एक था। आज वहाँ इस्लामी शासन है। राजसत्ताओं के साथ सांस्कृतिक-धार्मिक परिवर्तनों के इस क्रम की प्रक्रिया बहुत पहले ही शुरू हो गई थी। परिवर्तन के इस क्रम को ऐतिहासिक संदर्भों से जानने का एक प्रयास

आज के अफगानिस्तान को इस्लाम से पहले आर्याना, पख्तिया, खुरासान, पश्तूनख्वाह और रोह आदि नामों से पुकारा जाता था जिसमें गंधार, कंबोज, कुभा, वर्णु, सुवास्तु आदि क्षेत्र शामिल थे। जिसका वर्णन महाभारत तथा अन्य ग्रंथों में मिलता है। जरथ्रुरुष्ट्र (Zoroastrian) द्वारा रचित ग्रंथ 'जिंद अवेस्ताश्में इस भूखंड को अरिआना-वीजो या आर्यानुम वीजो कहा गया है। एकेश्वरवादी धर्म की स्थापना करने वाले दार्शनिक जरथ्रुष्ट्र यहीं रहते थे। 13वीं शताब्दी के महान कवि रूमी का जन्म भी अफगानिस्तान में ही हुआ था। धृतराष्ट्र की पत्नी गांधारी, और महान संस्कृत व्याकरणाचार्य पाणिनि भी इसी क्षेत्र के बाशिंदे थे।[1]

708-9 में बल्ख पर कब्जे के साथ ही उमय्या खिलाफत की शुरुआत हुई। जो आज का अफगानिस्तान है। अफगान के कुछ लोगों ने दमिश्क के नए अधिपतियों के खिलाफ विद्रोह किया। कुछ लोग सेना में शामिल हो गए, जिन्होंने 749 में प्रतिद्वंद्वी अब्बासिद खलीफाओं को उमय्या से पदभार ग्रहण करने में सक्षम बनाया। नौवीं शताब्दी तक, बल्ख शहर को इस्लाम का केंद्र बनाने की शुरुआत हो चुकी थी। यहाँ सेनाओं से पहले ही आ चुके मुस्लिम बुद्धिजीवी संतों से जुड़े पुण्य स्थानों को उनकी मूल पहचान से अलग कर इस्लामी पहचान के साथ गहराई से जोड़ने में जुट गए थे। उनकी कोशिश इस बात के लिए रास्ते निकालने की थी कि इस्लामिक खिलाफत हजारों साल की पुरानी सभ्यता में कम से कम समय में पूरी मजबूती के साथ कैसे समा सकती है। इसे जानकर ही यह समझा जा सकता है कि आज के अफगानिस्तान पर अपना अधिकार स्थापित करने की कोशिश में अरब आक्रांताओं ने आर्थिक रूप से व्यवहार्य एवं राजनीतिक स्थिरता प्राप्त करने के लिए किस तरह की रणनीति अपनाई।

अफगानिस्तान में प्रारंभिक इस्लामी इतिहास के अध्ययन के लिए जो भौगोलिक संदर्भ और स्रोत उपलब्ध हैं, उनके अवलोकन से पता चलता है कि अरबों के आक्रमण से पहले, अफगानिस्तान पर उनके काबिज होने और इसके इस्लामी शासन में परिवर्तन तक का इतिहास में एक संक्षिप्त वर्णन है। यह वर्णन इसके बाद अफगानिस्तान में स्थानीय मान्यताओं के साथ अरब आक्रांताओं के धार्मिक विचारों के समायोजन पर प्रकाश डालता है। आठवीं और नौवीं शताब्दी में खलीफा वंश उमय्या, फिर अब्बासियों ने अफगानिस्तान के कुछ हिस्सों पर शासन किया। 709 में उमय्या शासन की स्थापना के साथ, जब अरब सेनाओं ने बल्ख पर कब्जा कर लिया, 870 में सिस्तान के सैफरीड राजवंश द्वारा बल्ख पर कब्जे और वहाँ के वास्तविक शासक अब्बासी के हटने के बाद तक के दौर पर गौर करें तो मालूम होता है कि हेरात और पश्चिम के क्षेत्र; कंधार और दक्षिण; बल्ख (आज का मजार-ए शरीफ) और उत्तर; और काबुल और पूर्व सभी का वर्णन इतिहास में प्राचीनकाल से मौजूद हैं।

मध्ययुगीन इस्लामी विद्वानों ने आज के अफगानिस्तान के क्षेत्रों का वर्णन अलग-अलग राज्यों में बांटकर किया है। ये राज्य हैं - खुरासान और सिस्तान। खुरासान सासानी साम्राज्य का पूर्वी राज्य (क्षत्रप) था। बल्ख और हेरात उनका घर है जो आज का अफगानिस्तान है। उधर ईरान का निशापुर और तुर्कमेनिस्तान का मर्व ये दोनों ही शाद्वल शहर थे, जो एक बड़े जिले के हिस्से थे और इसी नाम से जाना जाता थे। एल्टन डैनियल का एक मोनोग्राफ है 'प्रारंभिक अब्बासी खुरासानश। अब्बासी क्रांति के बाद की स्थितियां इससे आसानी से समझी जा सकती हैं। डैनियल ने विद्रोह के आंदोलनों का पूरा

इतिहास लिखा। उसमें उन सभी घटनाओं का जिक्र आया जो 755 में अबू मुस्लिम अल-खुरासानी की हत्या के बाद घटित हुई थीं। अफगानिस्तान पर उमय्या शासन के प्रभावों को समझने के लिए इतिहासकार निकोलस सिम्स-विलियम्स और जियोफ्रे खान द्वारा बैक्ट्रियन और अरबी से अंग्रेजी में अनूदित दस्तावेज बहुत महत्वपूर्ण सूत्र देते हैं। मानक स्रोतों में मध्ययुगीन अरबी राजनीतिक और भू-प्रशासनिक कारण शामिल हैं, जिन्हें इस लेख में इब्न अल-फकीह अल-हमदानी (903), इब्न खुर्रदबी (911), कुदामा इब्न जफर (922), अल-तबारी (923), और याकूत अल-रूमी (1229) के माध्यम से उद्धृत किया गया है।

फजायले बल्ख, बारहवीं शताब्दी के अंत मे शायख अल-इस्लाम अल-वाज द्वारा लिखित बल्ख का एक स्थानीय इतिहास, अब्बासी के समय में बड़ी संख्या में धर्मांतरण का वर्णन करता है। अब्दुल-रहमान फामी द्वारा हेरात की बारहवीं शताब्दी की एक अपूर्ण इतिहास की खोज स्थानीय स्रोत है जो उमय्या और प्रारंभिक 'अब्बासिद अफगानिस्तान' के बारे में महत्वपूर्ण जानकारियां देता है।[2]

खुरासान के बाद, सिस्तान दूसरा मध्ययुगीन क्षेत्र है जहाँ आज के कई प्रमुख ईरानी और अफगान शहर थे। इसमें अफगान के गजना (अब गजनी के रूप में ज्ञात), जारंग, बस्ट, कंधार, काबुल, काबुलिस्तान, और जाबुलिस्तान (गजना और काबुल के बीच की भूमि) शहर और क्षेत्र शामिल थे। कंधार को मध्ययुगीन स्रोतों में अल-रुखखज और जमींदावर के रूप में जाना जाता था।[3] 652-653 में जारंग पहले से ही उमय्या का अड्डा बन गया था, और यहीं से अरबों ने अपने पूर्ववर्ती अभियानों को अंजाम दिया। स्थानीय इतिहास 'तारीख-ए-सिस्तान' जो मुख्य रूप से सफवी (Safavid) वंश के अध्ययन के लिए इस्तेमाल किया जाता है, सिस्तान में इस्लाम के प्रारंभिक वर्षों पर दिलचस्प विवरण प्रदान करता है। सी. ई. बोसवर्थ के निबंध 'सिस्तान अरबों के अधीन' में इस संपूर्ण विषय का जैसा समग्र वर्णन है, वह व्यापकता उसके प्रकाशन के पचास वर्ष बीत जाने के बाद भी किसी अन्य कृति में नहीं आ सकी।[4]

अफगानिस्तान में इस्लामीकरण की प्रक्रिया को समझने के लिए इसके इतिहास-अध्ययन के क्रम को उत्तरी अफगानिस्तान के एक विशाल प्रांत बैक्ट्रिया में अरब कब्जे की भूमिका और संदर्भ के साथ शुरू करना चाहिए, जिससे यह सासानियों के अधीन होता गया। अरब प्रभाव वाले इस्लामी शासन से पहले चार अफगान क्षेत्रों में से तीन-बल्ख, हेरात, और सिस्तान सासानी प्रदेश के हिस्से थे। बल्ख और हेरात खुरासान से संबंधित थे, जो चार सासानी प्रदेशों में से एक था और जो मर्व से एक इसपबद या सासानी जनरल द्वारा शासित था।

705 में, उमय्या जनरल ने बल्ख पर अंतिम बार नियंत्रण किया। कुतयबा इब्न मुस्लिम से बल्ख के इसपबद और कुछ स्थानीय गणमान्य व्यक्ति मिले थे, 708-9 में इसपबद स्थानीय शासकों में से एक था जो कुतैबा के खिलाफ तुखारिस्तान के स्थानीय कुलीनतंत्र के खिलाफ एकजुट होने की कोशिश कर रहा था। बरमाक, बौद्ध नव बहार मठ का नेता भी इस विद्रोह के रचनाकारों में से एक प्रतीत होता है, जिसकी पत्नी को बंदी बना लिया गया था।[5]

बरमाक कुतयबा के समय शक्तिशाली था। बरमाक की शक्ति का स्रोत नव बहार था, जो न केवल एक बौद्ध धार्मिक केंद्र था, बल्कि प्रमुख जोत, कृषि, और राजस्व पैदा करने वाला केंद्र भी था, जो बल्ख के दो-तिहाई से अधिक क्षेत्र में फैला हुआ था जिसका क्षेत्रफल 72 वर्ग किलोमीटर से अधिक था। बल्ख के स्रोतों में सासानियाई (Sassanid) मूल मिथकों का प्रचलन (विशेष रूप से यह कि पैगंबर जुरथ्रुष्ट्र का निधन वहाँ हुआ और उनके संरक्षक गुश्तास ने शहर का निर्माण किया था), साथ ही साथ वहाँ जुरथ्रुष्ट्र का अग्नि मंदिर, सासानी सांस्कृतिक और धार्मिक प्रभाव को इंगित करते हैं। पूर्व-इस्लामिक बल्ख की तरह, तुखारिस्तान की जनसंख्या भी विविध थी। लोग कई भाषाएं बोलते और पढ़ते थे, जिनमें बैक्ट्रियन, तुर्की, सिरिएक, पालि और संस्कृत शामिल हैं।[6] बैक्ट्रियन भाषा ईरानी भाषा समूह से संबंधित थी और यह सिरिलिक लिपि में लिखी जाती थी। यह सिकंदर और सेल्यूसिड साम्राज्य की विजय की एक विरासत थी जो ईसा पूर्व चौथी और पहली शताब्दी के बीच हुई।

जब दक्षिणी क्षेत्र में पहुंचते हैं, तो सासानियन साम्राज्य की उपस्थिति कम हो जाती है। चीनी बौद्ध तीर्थयात्री ह्वेन सांग ने 630 के दशक बामियान के बल्ख की यात्रा की और बामियान में बुद्ध की दो विशाल मूर्तियों का वर्णन किया है, जो संभवत: छठी या सातवीं शताब्दी में निर्मित हुई थीं। प्राचीन बामियान एक राजवंश द्वारा शासित प्रतीत होता है जो संभवत: हेफथलिट मूल का था, लेकिन निश्चित रूप से पश्चिमी तुर्क के राजकुमार (याब-घू) के अधीन था। राजवंश अभी भी आठवीं शताब्दी की पहली तिमाही में शासन कर रहा था, जब बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार जोरों पर था।

हेरात से पश्चिम की ओर, 'हरेव' ईरान में काबा ए जरथ्रुष्ट, पर्सेपोलिस के पास सासानी शासक शापुर प्रथम के शिलालेख में सूचीबद्ध है। साम्राज्य के प्रांतीय राजधानियों के पहलवी कैटलॉग में (मध्य फारसी) 'हारी' नाम का भी उल्लेख किया गया है। सिस्तान सासानी शासन-क्षेत्र का हिस्सा था, एक क्षेत्र जो अफगानिस्तान में हिंदुकुश के दक्षिण (जारंग और निम्रूज के आसपास) और दक्षिण-पश्चिमी ईरान (जाहिदान) में था। यह एक उथला बेसिन था जिसमें सभ्यताएं हेलमंद नदी के किनारे के इलाकों में समूहबद्ध हो गईं। सिस्तान मध्य फारसी सकस्तान से निकला है, जिसका उल्लेख पर्सेपोलिस के पास नक्श-ए रुस्तम के सासानी शासक शापुर प्रथम के एक अन्य

फजायले बल्ख, बारहवीं शताब्दी के अंत में शायख अल-इस्लाम अल-वाज द्वारा लिखित बल्ख का एक स्थानीय इतिहास, अब्बासी के समय में बड़ी संख्या में धर्मांतरण का वर्णन करता है। अब्दुल-रहमान फामी द्वारा हेरात की बारहवीं शताब्दी की एक अपूर्ण इतिहास की खोज स्थानीय स्रोत है जो उमय्या और प्रारंभिक 'अब्बासिद अफगानिस्तान' के बारे में महत्वपूर्ण जानकारियां देता है

शिलालेख में भी है। जब उमैया मुस्लिम सेनाओं ने 652/3 में जारंग को अपना केंद्र बनाया उस समय जुरथ्रुष्ट का पारसी मत अच्छी तरह से स्थापित हो गया था। इसे प्रमुख मोबाह और हिरबाद की उपस्थिति से चिह्नित किया गया था, जबकि करकुइया का प्रमुख अग्नि मंदिर उमाय्या विजय के बाद भी लंबे समय तक प्रतिष्ठित रहा। एक बिशप नेस्टरियन चर्च का प्रतिनिधित्व कर रहा था जो अच्छी तरह से इस्लामिक काल तक जारी रहा। हालांकि, सिस्तान का कंधार (अर्थात अल-रुखखज और जमींदावर) दो शताब्दियों तक सासानी या अरबी नियंत्रण के अधीन नहीं था। काबुल और जाबुलिस्तान तीसरी शताब्दी ई.पू. से पहली शताब्दी में ग्रीको-बैक्ट्रियन क्षेत्र के हिस्से थे। बाद में उत्तर से खानाबदोश जनजातियों, कुषाणों, किदाराइट्स और हेप्थालाइटों द्वारा शासन किया गया। इस पूरे दौर में बौद्ध एवं अन्य भारतीय पंथ वहां फलते-फूलते रहे। जुनबिल और कबुलशाह लगभग दो शताब्दियों तक इस्लामी शासन के प्रतिरोध में बने रहे, जब तक कि सिस्तान के सफारी ने अस्थायी रूप से उन्हें 870 में अपने नियंत्रण में नहीं कर लिया।[7]

उमय्या ने सासानी साम्राज्य को सातवीं और आठवीं शताब्दियों में जीत लिया था। 637 में तीसफून (आधुनिक बगदाद से 20 मील दक्षिण पूर्व) में सासानी प्रशासनिक राजधानी के पतन और मर्व में 651 में अंतिम सासानी सम्राट, यज्दगिरद तृतीय की हत्या का दूरगामी प्रभाव पड़ा। अफगानियों ने पहले तो इससे विद्रोह और प्रतिरोध किया, लेकिन अंततः अधीनता स्वीकार कर ली। बल्ख पहला शहर था जो 709 में उमय्या जनरल कुतैबा इब्न मुस्लिम द्वारा जीत लिए जाने के बाद उमय्या के नियंत्रण में आ गया। अरबी सैनिक और उनके मावला (अरब आदिवासियों के पक्षकार) 724/5 में बल्ख शहर में घुस गए।

उमय्या राजवंश ने सासानी की तरह मर्व में अपने क्षेत्रीय कमांड सेंटर से खुरासान पर शासन किया। बरमाक, जो पहले बौद्ध नव बहार ठिकाने से जिले के अधिकांश भाग पर शासन कर रहे थे, अब उमय्या के लिए उपयोगी स्थानीय साथी साबित हो रहे थे। खलीफा का साम्राज्य उसकी राजधानी दमिश्क से बहुत दूर तक फैला हुआ था, और

पूर्व बौद्ध बरमाक वंश का धर्मांतरण मध्ययुगीन इस्लामी धर्मांतरण की सर्वाधिक चर्चित घटनाओं में से एक है जो खलीफा हीशाम इब्न अब्दुल-मलिक के प्रति अपनी निष्ठा के कारण सीरिया की यात्रा पर गया था। उमय्या के खिलाफ विद्रोह में अब्बासियों का साथ देने के बाद बरमाकों का प्रभाव बढ़ गया। इसी के बाद अब्बासी ने 749 में खिलाफत का कार्यभार सँभाल लिया

उसे स्थानीय शासकों के सहयोग और अंततः उनसे सौहार्द स्थापित करने की आवश्यकता थी। पूर्व बौद्ध बरमाक वंश का धर्मांतरण मध्ययुगीन इस्लामी धर्मांतरण की सर्वाधिक चर्चित घटनाओं में से एक है जो खलीफा हीशाम इब्न अब्दुल-मलिक के प्रति अपनी निष्ठा के कारण सीरिया की यात्रा पर गया था। उमय्या के खिलाफ विद्रोह में अब्बासियों का साथ देने के बाद बरमाकों का प्रभाव बढ़ गया। इसी के बाद अब्बासी ने 749 में खिलाफत का कार्यभार सँभाल लिया। बरमाकों की अगली पीढ़ी नई खलीफा राजधानी बगदाद में खलीफा हारुन अल-रशीद के निकट आ गई। वहां, याह्या इब्न बरमाक और उनके बेटों फजल (808) और जाफर (803) ने क्रमशः मंत्री और गवर्नर के रूप में कार्य किया। अरेबियन नाइट्स की कहानियों में हारुन अल-रशीद और बरमाकों के संबंध को किंवदंती में बदल दिया गया था। बरमाक एक ऐसा अफगान राजवंश बन गया था जो बगदाद के शाही केंद्र और महत्वपूर्ण प्रांत खुरासान में खलीफा सत्ता के उच्चतम नेताओं में शामिल था और जहां उन्होंने खिलाफत की नीतियों और प्रथाओं के निर्माण में भाग लिया था। यद्यपि वे बगदाद के मूल निवासी नहीं थे। बल्कि बरमाक राजवंश ने अपने संपर्क और प्रभाव का इस्तेमाल करके खिलाफत की पश्चिमी और पूर्वी भूमि के रूप में दुनिया के दो भिन्न भागों को एक साथ ला दिया। बरमाकों ने ही यह्या इब्न बरमाक (805), को संस्कृत ग्रंथों के अनुवादों के लिए अधिकृत किया और बुद्ध के जीवन का संरक्षण किया।

अफगानिस्तान में खलीफा शासन के पहले एक सौ साठ वर्षों के दौरान अन्य स्थानीय विजेता, तुखारिस्तान में बल्ख के दक्षिण-पूर्व में एक सौ तीस किलोमीटर की दूरी पर स्थित रोब के स्थानीय शासक थे। अल-हरिस इब्न सुरयाज नाम के एक विद्रोही का विद्रोह विशेष रूप से बल्ख के आसपास के क्षेत्रों में लोकप्रिय था, जो 734 से 746 तक था। बगदाद स्थित इतिहासलेखक अल-तबरी (923) के अनुसार अल-हरिस ने मुरजी के सिद्धांत का पालन किया और यह स्पष्ट किया कि मुस्लिम होने के लिए केवल विश्वास ही पर्याप्त है। उसे उन धर्मांतरित लोगों से समर्थन मिला जिन्हें बताया गया था कि बिना इस्लामिक कृत्यों के उनका धर्मांतरण मान्य नहीं होगा। अल-हरिस ने बल्ख गवर्नर के पद के लिए गवर्नर नासर इब्न सय्यर (748) को सीधे और यहां तक कि चयन प्रक्रिया को लेकर खलीफा को भी चुनौती दी। लगभग तुरंत बाद, खुरासान में उमय्या को फिर से चुनौती दी गई। इस बार विद्रोह का नेतृत्व अबू मुस्लिम और अब्बासी ने किया, जिन्होंने इस्लामिक सिद्धांतों के अनुसार खिलाफत लाने की भी मांग की। वे 749 में वे उमय्या खिलाफत को उखाड़ फेंकने और अपनी जगह बनाने में सफल रहे।

उस्तादहिस ने हेरात और बुशांज पर कब्जा कर लिया। उस्तादियों ने इस प्रक्रिया में सैकड़ों अरब आदिवासियों और कई अब्बासी नेताओं को मार डाला। वह बिहाफरीद (लगभग 748 या 749) द्वारा प्रस्तावित जोरोस्ट्रियन सुधारवादी सिद्धांतों में परिवर्तित हो गया, जिसने इस्लाम से प्रेरित प्रथाओं और निषेधों को अपनाया। उस्तादहिस के समर्थकों की संख्या तीन लाख थी। वह अंततः बदगीस के एक किले में भाग गया, और उसके बाद श्अब्बासी खलीफा अल-मंसूर (754-75) के सेनापति, खजिम इब्न खुजमा, ने विद्रोहियों को हराया और उस्तादहिस को गिरफ्तार कर लिया।

जारंग ने 652/3 में दक्षिण में सिस्तान की राजधानी में अरब सेनाओं के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। यह बाद में एक

महत्वपूर्ण केंद्र बन गया, जहां से उमय्या और प्रारंभिक अब्बासी ने झुंबील, अल-रुखखज (कंधार) और जमींदावर के स्थानीय शासकों और साथ ही काबुल के कबुलशाह शासकों के खिलाफ युद्ध छेड़े। स्थानीय आबादी पर लगाए गए उच्च कर के कारण ईरान के करमान से भागे लोग खैराजियों के समर्थन में आ गए, जहाँ वे पहले उमय्या से हार गए थे। खैराजियों ने अपने उग्रवादी अभियानों को अफगानिस्तान के खुरासान और सिस्तान के छोटे शहर में 861 और 1003 के बीच के सफारी वंश के शासनकाल तक जारी रखा। कालांतर में 'अय्यरुन' नाम से स्थानीय मुस्लिम सेनानियों के एक तबके ने सफारी वंश को जन्म दिया जिससे काबुल में गैर मुस्लिम नियंत्रण समाप्त हो गया।

अफगानिस्तान पर नियंत्रण से उमय्या और अब्बासी को समान वित्तीय लाभ हुए। उदाहरण के लिए, इब्न खुरदादबीह (लगभग 911) के अनुसार, वित्तीय वर्ष 826-27 में, खुरासान ने अकेले ही खलीफा को 44.8 मिलियन दिरहम का खरज कर का योगदान दिया था। सफारी वंश के इस राजस्व कर के नुकसान को अकसर उद्धृत किया जाता है, जिसने अब्बासी खिलाफत को पूरी तरह ध्वस्त कर दिया। अफगानिस्तान के शहरों पर नियंत्रण, जैसे कि बल्ख, ने तथाकथित सिल्क रोड के भूमि मार्गों के माध्यम से भारत के साथ व्यापार को सक्षम बनाया। मौजूदा व्यापारिक नेटवर्क का उपयोग करके खिलाफत भारत और मध्य एशिया के अमीर गैर-मुस्लिम भूमि के साथ जुड़ा। इस प्रकार भारत से इस्लामिक और बाहरी दुनिया के लिए हाथी और तिब्बत से कस्तूरी लाया। मुस्लिम इतिहास ने हमें बताया कि ऐसे लंबी दूरी के व्यापार ने अफगान बाजारों को घोड़ों, ऊँटों, सूखे फलों, शराब, मसालों, मिठाइयों और वस्त्रों से भर दिया।

खलीफा शासन में परिवर्तन से अफगानिस्तान में नए धर्म के रूप में इस्लाम का आगमन हुआ। अब सवाल यह है कि इस्लाम ने खुद को अफगान समाज में कैसे शामिल किया? विशेष रूप से, इसके समर्थक कौन थे, और उन्होंने अपने नए धार्मिक ज्ञान को कैसे प्रसारित किया? इस्लाम में धर्मांतरण की दर क्या थी, और लोगों को धर्मांतरण के लिए किसने प्रेरित किया होगा? लोगों ने स्थानीय प्रथाओं के अनुकूल वातावरण बनाए रखने के लिए कौन सी रणनीतियों का इस्तेमाल किया, जो कि खिलाफत के कारण बनाई गई थी? क्या बल्ख और खिलाफत में कहीं और भी, इस्लाम के समर्थक मुस्लिम विद्वान या उलमा थे? फजा-ए-बल्ख में वर्णित बल्ख के सत्तर उलेमाओं में से चालीस इस्लाम की प्रारंभिक दो शताब्दियों के दौरान वहाँ रहते थे और सभी ने कुरान और इसकी व्याख्या के साथ-साथ हदीस का अध्ययन किया जिन्हें इस पुस्तक में आधा से तीस पृष्ठ तक वर्णित गया है।

वे अरबों और मावला धर्मांतरित लोगों के एक उदार मिश्रण थे जो नील से लेकर ऑक्सस तक सभी खिलाफत से आए थे। इस्लाम के शुरुआती दिनों में उलेमा पेशेवर मुसलमान नहीं थे, क्योंकि इस्लामिक विद्वत्ता का लक्ष्य काफी हद तक एक निजी पेशा था या सबसे अच्छा एक अंशकालिक नौकरी थी।

मुस्लिम शिक्षा और व्यावसायिकता की इस कार्यप्रणाली से पता चलता है कि बल्ख अन्य प्रारंभिक मुस्लिम धार्मिक केंद्र दमिश्क और बगदाद से मिलता जुलता है।[8] उलेमा का एक बड़ा हिस्सा अपने धार्मिक ज्ञान के कारण, बल्ख के पवित्र तपस्वियों (जुहाद) के रूप में प्रसिद्ध हो गया। उत्तरार्द्ध संभवत: सूफी हो सकता है। फाजा-एल-बल्ख कहीं भी, 'सूफी' शब्द का उपयोग नहीं करता है।

बल्ख के शुरुआती मुस्लिम विद्वानों में कानूनी विशेषज्ञ भी शामिल थे, जिन्होंने लोगों के दैनिक जीवन में शरीयत के उपयोग पर सलाह और न्याय किया। उनका काम व्यापक और विशिष्ट दोनों था, जिसमें कई प्रकार के मुद्दों को शामिल किया गया था। इनमें आहार, व्यक्तिगत स्वच्छता, विरासत, संपत्ति और विवाह के अधिकार शामिल थे। इसके बावजूद कि वे खलीफा द्वारा सीधे नियुक्त किए गए थे, बल्ख के शुरुआती काजी (न्यायाधीश) शक्तिसंपन्न और स्वतंत्र थे। काजी ने खुद को राजनैतिक शासकों के भ्रष्टाचार और अशुद्धता के खिलाफ आम जनता के रक्षक के रूप में प्रस्तुत किया।[9] राजनीतिक प्रतिष्ठान के खिलाफ उनके टकरावपूर्ण रुख के कारण नौवीं और दसवीं शताब्दी में बल्ख में काजी प्रतिष्ठान को भंग कर दिया गया और राजनीतिक शक्ति ने इसके स्थान पर एक प्रणाली स्थापित की, जिसे मजालिम कहा जाता है, जिसका मुख्य कार्य शिकायतों का निवारण था। इस माध्यम से जनता की शिकायतों को राजनीतिक नेता द्वारा सीधे सुना और न्याय किया जाने लगा। चर्ड बुलियट ने अनुमान लगाया है कि ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में खिलाफत के इस हिस्से में 90 प्रतिशत मुस्लिम आबादी हो गई। फजाल-ए-बल्ख कई पवित्र स्थलों का वर्णन करता है, विशेष रूप से आठवीं और बारहवीं शताब्दी के बीच बल्ख में उलमा के लिए बनाए गए धार्मिक स्थलों का। बल्ख क्षेत्र में स्थित धार्मिक महत्व के सभी सत्ताईस स्थल पांच विशेष बिंदुओं पर केंद्रित किए गए थे। एक के बाद एक, शेख अल-इस्लाम अल-वाज ने इन स्थलों को पवित्र परिदृश्य के आख्यान में बुना है। बल्ख के मुस्लिम परिदृश्य के मूल में बौद्ध अतीत है। कुषाण राजा कनिष्क प्रथम के दरबार से दूसरी शताब्दी में बौद्ध धर्म का संस्थागत निर्माण शुरू हुआ। बाद में, सातवीं और आठवीं शताब्दी में, बल्ख के परिदृश्य को चीनी तीर्थयात्रियों द्वारा वर्णित किया गया था, जिसमें सैकड़ों बौद्ध स्तूप मंदिर थे।

बल्ख के बौद्ध मठों में नव विहार अब तक का सबसे बड़ा मठ था। नव विहार के भिक्षुओं ने श्रावकयान के धार्मिक शिक्षण का अध्ययन किया, जिसको चीनी तीर्थयात्री ह्वेनसांग ने हीनयान नाम से उल्लेख किया। इस्लामी विजय के बाद नव विहार मठ का

वे अरबों और मावला धर्मांतरित लोगों के एक उदार मिश्रण थे जो नील से लेकर ऑक्सस तक सभी खिलाफत से आए थे। इस्लाम के शुरुआती दिनों में उलेमा पेशेवर मुसलमान नहीं थे, क्योंकि इस्लामिक विद्वत्ता का लक्ष्य काफी हद तक एक निजी पेशा था या सबसे अच्छा एक अंशकालिक नौकरी थी

संस्कृत नाम बदलकर फारसीकृत नव बहार हो गया और बल्ख के तीन पवित्र द्वारों में से एक का नाम बन गया।

इस्लामी शासन की पहली शताब्दी के दौरान मुस्लिमों ने मौजूदा पवित्र स्थलों पर अपना अधिकार जमाया और उनमें कुछ अपनी ओर से भी जोड़ा। बल्ख एक अत्यधिक सामंजस्यपूर्ण पवित्र भूमि लगता है। हालांकि इस दृष्टिकोण में बौद्ध अतीत को जोरोस्ट्रियन और बाइबिल स्रोतों के मूल आख्यानों के साथ मिला दिया गया था। उदाहरण के लिए, बल्ख के पांच पवित्र स्थलों में से सबसे पुराना गुश्तास माउंड (टाल-ए-गुश्तस्प) है, जो अल-वाज ने अपने फजाल-ए-बल्ख में सूचीबद्ध किया है। जिस समय अल-वाज ने यह इतिहास लिखा उस समय तक गुश्तास के टीले का बौद्ध अर्थ खो चुका था किंतु इसकी पवित्रता को बनाए रखा गया था। जुरथ्रुष्त्री परंपरा में, गुश्तास जुरथुष्ट्र का शाही संरक्षक था। स्वाभाविक रूप से मुसलमानों ने इस्लामिक भाषा और कल्पना के भीतर अपने प्रतीकात्मक अर्थों को पुनः व्यवस्थित किए बिना गुश्तास के टीले जैसे स्थलों को नहीं अपनाया। ये स्थल पहले की तरह पवित्र और प्रतिष्ठित बने रहे।

अफगानिस्तान पर अरब की विजय से पूर्व अफगानिस्तान की जनता बहु-धार्मिक थी। वहाँ विभिन्न धार्मिक परंपराएं थी, जिनमें पारसी धर्म (उत्तरपूर्वी क्षेत्र में), मूर्तिपूजक-मत (दक्षिण और पूर्व में), बौद्ध धर्म (दक्षिणपूर्वी क्षेत्र में) और हिंदू धर्म (काबुल और अन्य कई स्थानों पर) शामिल हैं। फारसी, खलजी, तुर्की और अफगानी जैसे कई लोगों का निवास स्थान अफगानिस्तान था। अरबों ने सातवीं शताब्दी के मध्य में दो समानांतर मोर्चों हेरात में उत्तर और सिस्तान में दक्षिण पर अफगानिस्तान पर आक्रमण किया। दक्षिणी मोर्चे पर, अरब फौजों ने सिस्तान में अपने केंद्र के बाद काबुल में प्रवेश किया।

इस्लाम ने मध्ययुगीन अफगान समाज में खुद को एक तैयार उत्पाद के रूप में शामिल नहीं किया, बल्कि अफगानिस्तान के मध्ययुगीन लोगों ने इस्लाम को अपने कुछ आकार और रंग दिए। उदाहरण के लिए, बल्ख में प्रारंभिक मुजाइट आंदोलन ने लोगों को अपनी सदियों पुराने धर्म की धार्मिक पद्धति को त्याग किए बिना इस्लाम में परिवर्तित होने में सक्षम बनाया। ■

संदर्भ संकेत

1. ीजजचे://ीपदकप.ूमइकनदपं. बवउें/दंजंद-कींतउं-ीपेजवतल/ हिींद-ीपेजवतल-11405
2. अब्दुल रहमान फामी, तारीख-ए-हेरात
3. गाय ले स्ट्रेंज, लैंड्स ऑफ ईस्टर्न खिलाफत, कैंब्रिज यूनिवर्सिटी कैंब्रिज प्रेस, 1930, पृष्ठ 334-51
4. सीई बोस्वर्थ, सिस्तान अंडर अरब (फ्रॉम कॉन्केस्ट टु द राइज ऑफ सैफेविड्स, 1968
5. अल-ताबरी, खंड 2, पृष्ठ 118
6. निकोलस सिम्स विलियम्स, बैक्ट्रियन लैंग्वेज एन्साइक्लोपीडिया इरानिका खंड 3, पृष्ठ 344
7. सी.ई. बोस्वर्थ, उबैदुल्ला इब्न अबु बकर एंड आर्मी ऑफ डिस्ट्रक्शन इन जुबलिस्तान, दर इस्लाम, 1973, पृष्ठ 268
8. मदरसा: द इंस्टीट्यूशन इन द अरेबिक, पर्शियन, तुर्किश लैंड एल खंड 5, लीपोडन ब्रिल, 1986, पृष्ठ 1122
9. एडम मेज, द रेनेसां ऑफ इस्लाम, पटना जुबली प्रिंटिंग एंड पब्लिशिंग हाउस, 1937, अध्याय 3

अन्य

आंद्रे विंक, अल हिंद: द मेकिंग ऑफ द इंडो-इस्लामिक वर्ल्ड, ब्रिल 1990, पृष्ठ 118
विलेम वोगल्सैंग, संस्करण: इलस्ट्रेटेड, विले-ब्लैकवेल से प्रकाशित, 2002, पृष्ठ 188

पश्तूनवली

पश्तूनवली, जिसे अफगानियत भी कहा जाता है, उसका अर्थ था पश्तून लोगों की परंपरागत जीवनशैली। इसके अर्थों को पश्तुन की जीवनशैली या जीवन संहिता कह सकते हैं। इसका पालन अधिकतर पश्तूनों में किया जाता है, और खास तौर पर उन पश्तूनों में जो गाँव में रहते हैं। इसके अतिरिक्त यह पश्तून प्रवासियों के सदस्यों के द्वारा भी मनाया जाता है, इसे कुछ पश्तून अफगानियों और पाकिस्तानियों ने भी अपना लिया है, जो पश्तून क्षेत्र में रहते हैं या फिर वह जो धीरे धीरे समय के साथ पश्तून हो गए हैं।

देशज पश्तून जातियों को अक्सर स्वतंत्र लोगों के रूप में जाना जाता है, जिनका निवास प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व से पश्तूनिस्तान क्षेत्र में था (पूर्वी अफगानिस्तान और उत्तर पश्चिमी पाकिस्तान)। इस अवधि के दौरान यह पहाड़ी क्षेत्र सरकारी नियम या नियंत्रण के बाहर ही रही है। यही कारण है, कि क्यों देशज पश्तून अभी भी पश्तुनवाली का पालन करते हैं, जो उस क्षेत्र का कानून है।

पश्तूनवाली नियमों को अफगानिस्तान और पाकिस्तान (मुख्य रूप से पश्तूनिस्तान के आसपास) में और पूरे विश्व में कुछ पश्तून समुदायों में अपनाया जाता है। कुछ गैर पश्तूनों ने भी इसकी विचारधारा या परंपराओं को अपना लिया है। इसके विपरीत कई आधुनिक पश्तुन पश्तूनवाली के नियम भुलाने लगे हैं। एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरित होने वाले पश्तूनवाली दिशानिर्देश व्यक्तिगत और सामुदायिक आचरण को निर्देशित करते हैं। अधिकतर पश्तून द्वारा पालन किए जाने वाले यह दिशानिर्देश पश्तूनीकरण को प्रोत्साहित करने में सहायता करते हैं। ■

डॉ. मधु रानी शुक्ला

भारतीय संगीत में गांधार एवं गंधर्व

गंधर्ववेद उपवेदों में से एक है। सामवेद के इस उपवेद का प्रतिपाद्य संगीत, नृत्य, रंगकर्म और अन्य ललित कलाएं हैं। इतिहासवेत्ताओं की दृष्टि में तो गंधर्व शब्द की व्युत्पत्ति गंधार से है, लेकिन शास्त्रीय संगीत की दुनिया में गंधार को ही गंधर्व से जुड़ा माना जाता है। गंधार और गंधर्ववेद का संबंध अभी भी अनुसंधान का विषय है

अमूर्तकला चिंतन में संगीत सर्वश्रेष्ठ है। साकार से निराकार ब्रह्म की उपासना का मार्ग प्रशस्त करने वाला संगीत विश्वगुरू के रूप में भारत को स्थापित करता है। इसका आध्यात्मिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक स्वरूप अद्भुत-अलौकिक है। संगीत हमें बाह्य जगत प्रपंच से दूर उस पारलौकिक सत्ता के समक्ष ले जाता है जहाँ समभाव होता है। जहाँ न सुख मेरा या तेरा है और न दुख। सब कुछ हम सबका हो जाता है। अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम् ... यह संगीत आत्मा से स्वयं उद्भूत तथा आत्मसत्ता से ही ग्रहीत होता है। रज, तम, सत ग्रंथियों का सुप्त होना और सत्व का उद्वेग ही संगीतसिद्धि है। यह हमें लौकिक जगत से उठाकर 'रसो वै सः' तक ले जाता है। इस संगीत का मूल आधार ध्वनि नाद श्रुति स्वर के रूप में प्रतिष्ठित होता है। स्वरों की संख्या समस्त ब्रह्मांड में सप्तस्वरों के रूपमें मान्य है। यही स्वरकाल तथा वाक् के साथ मिलकर सांगीतिक रचनाओं का रूप ग्रहण करता है आलाप तथा तान इन्हीं स्वरों से विस्तारक राग रूप धारण करते हैं।

प्रतिशाख्यों में स्वर को अक्षर कहा गया है। महाभाष्यकार ने कहा, जो स्वयं सुशोभित है वह स्वर है- 'स्वयं राजन्ते इति स्वराः'।[1] प्राकृतिक तत्वों के क्रमिक विकास से प्रकट स्वर अर्थध्वनियों के स्वर नाम तो प्रतीक हैं, वे उनके स्वरूप नहीं। अतः नित्य मौलिक तात्विक ध्वनियों के प्रतीक रूप अक्षर हैं।[2] भाषा में स्वर का महत्वपूर्ण स्थान व कार्य है। वह वर्ण की जीवन शक्ति है। वर्ण भी पूर्ण तथा स्पष्ट ध्वनियों की सहायक है। अस्तु संगीत के सप्तस्वर षडज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत व निषाद हैं। जिन्हें क्रमशः सा,रे,ग, म,प,ध,नि, कहते हैं।

पारी शिक्षा में उदात्त को उच्च स्वर कहा है और गांधार को इसी उच्चभाव से कहा गया। वैदिक वाङ्मय के यत्र तत्र बिखरे हुए इन तथ्यों से अनुमान लगा सकते हैं कि अकारादि भाषा के स्वरमय प्रधान रूप हैं। अतः वो गेय भी हो सकते हैं।

अभिनव गुप्त ने तीन स्वरों (उदात्त अनुदात्त, स्वरित) का उपवादन इस प्रकार किया है - चतुःश्रुतिक स्वर ऊँचा होने से उदात्त, द्विश्रुतिक स्वर नीचा होने से अनुदात्त तथा दोनों का समाहार स्वरित है।[3]

गांधारयतिइतिगंधारः (गांधृअण) गो रूप कर्म के उपपद रहते हुए धृ धातु से अण् प्रत्यय करने पर गांधार शब्द उत्पन्न होता है अर्थात् गानात्मिका वाणी को जो ग्रहण करता है उसे गंधार कहते हैं।[4] अथवा गंधर्वों के सुख का हेतु होने के कारण गांधार कहते हैं गांधार शब्द आनुनासिक है।[5]

संगीत रत्नाकर जो भारतीय संगीत का आकर ग्रंथ है उसमें व शारंगदेव ने गांधार स्वर की उत्पत्ति कुल, वर्ण, रंग, द्वीप ऋषि, देवता छंद से लेते हुए उसका रसगत विनियोग भी कहा है। जिसका स्थान आसमान है, जिसके दो स्थान, दो बुर्ज तथा मरीख है। गांधार स्वर सात स्वरों की श्रेणी में तृतीय श्रेणी पर आता है जिसकी ध्वनि बकरे के ध्वनि के सदृश्य मापी गई है।

जिसे देवकुल का कहा गया-

गीर्वाणकुलसंभूताः षडजगांधारमध्यमाः'[6]

वैश्य जिसका वर्ण है-

रिघौतु क्षत्रियोज्ञेयोवैश्वजातिनिगौमतौः

शुद्रावन्तरकाकल्यो स्वरौवर्णास्विमेंक्रमात्।।[7]

जो सुवर्ण वर्ण जिसका है-

पद्मनाभः पिजरः स्वरवर्णः कुन्दंप्रभोऽसितः

पीतकर्बुरइत्येषां जन्मभूमिरथब्रुवे।।[8]

जोकुशष् द्वीप का है, जिसके ऋषि चंद्रमा और

सरस्वती जिसकी देवता हैं-
वह्निब्रहमसरस्वतस्यः शर्वश्रीगणेश्वराः।
सहसांशुरितिप्रोक्ताः क्रमात्षड्जादिदेवताः।।[9]
जिसका छंद त्रिष्टुप है तथा जिसका करूण रस में विनियोग है-
सरीवीरेऽदभुतेरौद्रेंयोवीभत्सेभयानके।
कायोगानितु करूणे हास्यश्रंगारयोर्मपौ।।[10]

गांधार की स्वरगत् विशेषताओं के विवेचन के पश्चात् ग्रंथों में गांधार शब्द ग्राम प्रकरण जाति प्रकरण में विशिष्ट रूपों में आया है। जैसे ग्राम प्रकरण के अंतर्गत कहा गया है। षडज ग्राम में गांधार नौवीं श्रुति क्रोधा पर स्थापित है तथा गांधार ग्राम में वर्जिका दसवीं श्रुति पर स्थापित है। गांधार का स्वरूप उदात्त करुण भाव का है। प्राचीन ग्रंथों में गांधार के तीन रूप गांधार, साधारण गांधार, अंतर गांधार कहे गए हैं। जोभिन्न श्रुति संख्याओं पर हैं। गांधार देवकुल में उत्पन्न होने से स्वरों में अग्रणी माना गया है। महेश्वर इनके देवता हैं वर्षा ऋतु में कल्याण के इच्छुक मनुष्यों को पूर्वांग अपरान्ह में गेय माना गया है। इसका प्रारंभ निषाद स्वर से होता है। कुछ विद्धान इसे निषाद ग्राम भी कहते हैं। किंतु गंधर्वों द्वारा प्रयुक्त होने के कारण इसे गांधार ग्राम कहा गया। इस गांधार ग्राम के सप्त स्वरों की मूर्छनाएं क्रमशः नंदा, विशाला, सुमुख, चित्रा, चित्रवती, सुखा तथा आलापा कही गई - नंदाविशालासुमुखीचित्रा चित्रवतीसुखा।
आलापा, चेतिगान्धारग्रामेस्युः सप्तमूर्छना।।[11]

इसी प्रकार जाति प्रकरण में पं. सारंगदेव ने शुद्ध जाति के अंतर्गत गांधारी जाति की चर्चा की है।जिसमें ऋषभ धैवत को छोड़कर पाँच अंश स्वर होते हैं। न्यास और अंश के साथ अन्य स्वरों की संगति होती है - धैवत से ऋषभ पर आना चाहिए। इसमें ऋषभ व धैवत के लोप से षाडव-औडव रूप बनते हैं। इसमें 16 कलाएँ होती हैं। इसमें मूर्च्छनाधैवतादि है और तालचच्चपुट है। ध्रुवागान के तृतीय अंक में इसका विनियोग होता है। इस गंधारी में गांधार-न्यास व षडजपंचम अपन्यास है।[12]

इसके पश्चात विकृत जातियों की व्याख्या में गांधारोदीच्चवा[13] जाति शब्द प्राप्त होता है। इसमें षडज पंचम अंश होते हैं। ऋषभ के लोप से षाडव रूप बनता है। विकृत जातियों की एक प्रकार रक्त गंधारी[14] ग्रंथों में निर्दिष्ट है। तीसरे अंक की ध्रुवा में इसका विनियोग होता है। जिसकी गान शैली का भी विवेचन किया गया है।

आचार्य बृहस्पति जी ने लिखा है कि इसमें पीछे अभिनवगुप्त के अंतःकरण में वीणा ऋग्वेद व गांधर्व का समन्वय करने की भावना प्रेरक है। स्वरों में द्रष्टा ऋषि भी बताए गए हैं। यथा पंचम के द्रष्टा नारद एवं निषाद के द्रष्टा तुम्बरू हैं। इन ऋषियों को गंधर्व भी कहा जाता है। साम संगीत के प्रथम स्वर को षडज मानें तो स्वयं भूनाद गांधार को तुम्बरू ने पहचाना। अगर प्रथम स्वर को मध्यम मानें तो धैवत स्वयंभू होगा। इस प्रकार ये ऋषिगणस्वरों के गंध रूप उपस्वरों को पहचानने के कारण गंधर्व कहलाए और गंधर्व से संबंधित गांधर्व कहलाए।

अभिनवगुप्त ने गांधर्व शब्द की व्याख्या भिन्न प्रकार से की है। गांधारयतीतिगांधर्वम्[15] अर्थात् जो वाणी को धारण करें वो गांधर्व है। इनके स्वरों की संज्ञाएँ भी अनादिकाल से चली आ रही हैं। इनमें आरोहात्मक क्रम है, जो मनुष्य द्वारा निर्मित नहीं है। इन ध्वनियों के दर्शन नारद आदि देवर्षियों को ही हुए होंगे। ये आत्मोपदिष्ट[16] स्वर कहे गए। इन ध्वनियों का सूक्ष्म ज्ञान गांर्धव को ही रहा होगा। गांधर्व के साथ ही गांधार शब्द स्वर नाम के रूप में आता है।

भरतों के वंशजों का जिक्र दामोदर गुप्त ने 'कुट्टनीतम' तथा 'रसवर्णसुधाकर' में किया है, जिसमें वो अपने सौ पुत्रों के नाम गिनाते हैं। जोवस्तुतः उनके शिष्य हैं। अनेक परवर्ती ग्रंथों में भरतादि, भरतजन, भरतों के द्वारा भरतवर्ग इत्यादि कहा है। इनके साक्ष्यों के आधार पर रंगकर्मी भरतों का पता चलता है। 'याज्ञवल्क्य स्मृति'[17] में जीव और आत्मा के संदर्भ में कहा जिस प्रकार भरत लोग नाना रूप धारण कर अलग-अलग पात्रों का अभिनय करते हैं, वैसे ही आत्मा नित शरीर धारण कर जगत व्यवहार करता है।पाणिनि की अष्टाध्यायी में स्पष्ट लिखा है पाराशर्यशिलालि भ्यामभिक्षुनटसूत्रयो अर्थात नटों के सूत्र भी थे।

'नाट्यशास्त्र' में वर्णित नट[18] का अर्थ अभिनेता किया है। इस संबंध में इतना स्पष्ट है कि नटों का वर्ग पहले से था। वाल्मीकि कृत 'रामायण' में, चाणक्य के 'अर्थशास्त्र' में नट, नर्तक व गांधर्व शब्द का प्रयोग हुआ है। इन तीनों की अलग श्रेणियाँ थीं। इन्हीं गंध र्व श्रेणी में भरत परंपरा आई। नाट्यशास्त्र की सृष्टि हर वर्ग के सर्ववर्णिक[19] एवं लोकोपदेश जनन के समान उपयोग हेतु मन मोहक रचना के रूप में देवताओं की प्रार्थना के पश्चात ब्रहमा ने चार

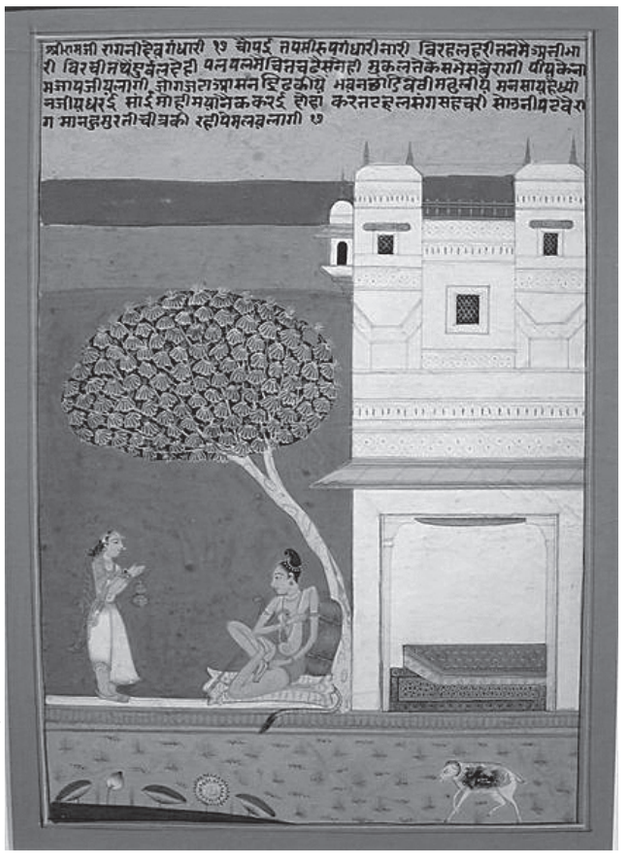

हिंडोल राग की देव गांधार रागिनी
साभार: https://commons.wikimedia.org/wiki/File:%27Devgandhr_Ragini_of_the_Hindol_Raga%27_by_Chetan_Das,_HMA_10734.1_.

वेदों एवं चार उपवेदों के स्मरण के पश्चात आठ गुणों को लेकर पंचम वेद के रूपमें नाट्यवेद की सृष्टि की। जिसका उपयोग यज्ञ के समान फलदायी तथा पवित्र होगा। संगीत में गंधर्व शब्द की चर्चा बहुतायत से पाई जाती है।

गंधर्व दो शब्दों से मिलकर बना है। गम् या गाम् जिसका अर्थ है संगीत रूपी वाणी, धर्व का अर्थ है धारण करने वाला[20]। अत: गंधर्व का अर्थ है संगीत रूपी वाणी को धारण करने वाला। ये धार्मिक प्रवृत्ति के इंद्र व कुबेर की सभा के संगीत सेवी होते थे। गंधर्वराज पुष्पदत्त द्वारा अगाध प्रेमभाव से रचित शिवमहिम्न स्तोत्र शिव को प्रिय कहा गया।

गंधर्व वेदों में एकमात्र देवता थे जो स्वर्ग के रहस्यों एवं अन्य सत्यों का उद्घाटन किया करते थे। वे सूर्याग्नि के प्रतीक रूप माने गए। वैदिक, जैन एवं बौद्ध धर्मग्रंथों[21] में यक्ष गंधर्व की उपस्थिति बताई गई है। पुराणों में देवोपम जाति के रूप में गंधर्व शब्द आता है।[22] ब्रह्मापुत्र तथा इंद्र के अनुसार माने गए अथर्ववेद में इनकी संख्या 6333 बताई गई है। विष्णु पुराण, हरिवंश पुराण आदि में इन गंधर्वो के विविध कृत्यों की चर्चा प्राप्त होती है। पौराणिक संदर्भो में यक्ष, राक्षस, सिद्ध, चारण, नाग, किन्नर आदि कई संज्ञाएँ इनके लिए पाई जाती हैं।

गंधर्व वेदों में एकमात्र देवता थे जो स्वर्ग के रहस्यों एवं अन्य सत्यों का उद्घाटन किया करते थे। वे सूर्याग्नि के प्रतीक रूप माने गए। वैदिक, जैन एवं बौद्ध धर्मग्रंथों में यक्ष गंधर्व की उपस्थिति बताई गई है। पुराणों में देवोपम जाति के रूप में गंधर्व शब्द आता है। ब्रह्मापुत्र तथा इंद्र के अनुसार माने गए अथर्ववेद में इनकी संख्या 6333 बताई गई है। विष्णु पुराण, हरिवंश पुराण आदि में इन गंधर्वो के विविध कृत्यों की चर्चा प्राप्त होती है

गंधर्व शब्द की क्लिष्ट कल्पनाओं पर आश्रित अनेक व्युत्पत्तियाँ हैं। सायण ने दो प्रकार से लिखा है। प्रथमगानुदकंधारयीति गंध र्वोयेद्य[23] और द्वितीय-गवांरश्मिनांधर्तारसूर्यगंध र्वो के नाम गातु एवं पुलम भी है। महाभारत में गंधर्व नाम की एक जाति का भी उल्लेख हुआ है जो पहाड़ों एवं जंगलों में रहती थी। गंधर्वो की रागबद्धता और संगीतमय जीवन तथा ललितकलाओं से उनके संबंध के उल्लेख से संस्कृत साहित्य भरा पड़ा है। अजंता के भित्तिचित्रों में गगनचारी गंधर्वो का बारंबार चित्रण हुआ है। ■

संदर्भ संकेत

1. *महाभाष्य पातंजलि*
2. *बृहदारण्यक उपनिषद*
3. *ना. शा. टीका अभिनव गुप्त*
4. *सं.र. 2/1/1*
5. *वही 1/30*
6. *वही 54*
7. *वही 51*
8. *वही.54*
9. *वही57*
10. *वही 58,59*
11. *वही 25,26*
12. *वही 67-69*
13. *वही 88*
14. *ना शा 91*
15. *ना.शा टीका 261*
16. *याज्ञवल्क्य शिक्षा*
17. *https://m.bharatdiscovery.org/india/%E0%A4%97%E0%A4%82%E0%A4%A7%E0%A4%B0%E0%A5%8D%E0%A4%B5*
18. *https://hi.m.wiktionary.org/wiki/%E0%A4%97%E0%A4%A8%E0%A5%8D%E0%A4%A7%E0%A4%B0%E0%A5%8D%E0%A4%B5*
19. *https://hi.m.wikipedia.org/wiki/%E0%A4%97%E0%A4%A8%E0%A5%8D%E0%A4%A7%E0%A4%B0%E0%A5%8D%E0%A4%B5*
20. *https://m-hindi.webdunia.com/sanatan-dharma-history/supernatural-beings-116030900060_1.html?amp=1*
21. *https://www.pustak.org/books/bookdetails/3828*
22. *https://hindi.speakingtree.in/blog/content-531132/m-lite*
23. *https://www.pustak.org/books/bookdetails/3828*

जिरगा

एक जिरगा (अक्सर जारगा आया जारगाह: पश्तो) नेताओं की वह सभा होती है जो आम सहमति के द्वारा और पश्तूनवली की शिक्षाओं के अनुसार फैसला देती है। यह आधुनिक लिखित और निर्धारित किए गए कानूनों को बताती है और न केवल पश्तून लोगों के विवाद सुलझाती है मगर यह उन लोगों के विवाद भी सुलझाती है, जो पश्तून से प्रभावित होते हैं। (ऐतिहासिक रूप से अफगान)। इसका मुख्य उद्देश्य है जनजातीय संघर्षों को रोकना। अधिकतर जिगरा का आयोजन अफगानिस्तान में किया जाता है मगर यह पड़ोसी पाकिस्तान में भी पश्तुन जातियों में भी आयोजित होती है, खास तौर पर फेडरल प्रशासित जनजातीय क्षेत्रों में (FATA) और खैबर पख्तूनख्वा (KPK) में। वर्ष 2017 पकिस्तान सरकार जिरगा को औपचारिक न्याय प्रणाली में मिलाना चाहती थी।

जिरगा मंगोल मूल का शब्द है जो ऐतिहासिक रूप से लोगों के इकठ्ठा होने को बताता है, पहले शिकार पकड़ने के लिए लोगों के इकट्ठा होने के लिए इस शब्द का इस्तेमाल किया जाता था। शायद पश्तून बुजुर्ग गोले में बैठते होंगे, कुछ न कुछ झगड़ा सुलझाने के लिए। ■

पश्तून लोककथाएं

आदम खान और दुर्खानी

आदम खान और दुर्खानी दोनों ही ऊपरी बाजदरा से थे और दोनों ही पुश्तून यूसफजई कबीले से ताल्लुक रखते थे। हसन खान का बेटा आदम खान, एक बहुत ही सुंदर युवक था। और दुर्खानी जो ताउस खान की बेटी थी, वह बहुत सुंदर स्त्री थी जो बहुत बुद्धिमान भी थी। पयू खान ने दुर्खानी की खूबसूरती के बारे में सुना और वह बिना देखे ही उसका दीवाना हो गया। उसके पिता ने दुर्खानी का हाथ अपने बेटे के लिए मांगने के लिए औपचारिक प्रस्ताव भेजा। दोनों के विवाह के लिए एक तारीख तय हो गई।

दुर्खानी ऊपरी बाजदरा में अपनी मौसेरी बहन की शादी में गई थी। उस शाम दूल्हे के दोस्त वहां इकट्ठे हुए थे और रबाब की खूबसूरत और कर्णप्रिय धुनों पर गाने और कव्वाली गा रहे थे। रबाब की मधुरता ने दुर्खानी की रूह को अंदर तक छू लिया और वह आदम खान द्वारा बजाए जा रहे संगीत में इतनी खो गई कि उसे पता ही नहीं चला कि कब उसे आदमखान से प्यार हो गया।

आदम खान भी इन भावनाओं से अछूता नहीं था, वह भी प्यार में दीवाना हो गया और उसने कसम खाई कि वह केवल और केवल दुर्खानी से ही शादी करेगा। दुर्खानी की शादी का दिन पास आता जा रहा था और उन दोनों को कोई हल नजर नहीं आ रहा था। दुर्खानी की शादी पायु खान से हो गई, मगर उसने पयू खान को खुद को छूने भी नहीं दिया। उस वक्त पयू खान ने सोचा कि शायद अभी इसे नए घर में तालमेल बैठाने में समय लगेगा। एक दिन पयू खान शिकार पर गया। दुर्खानी ने आदम खान को संदेशा भेजा, जो उसके पास आया और उसे घोड़े पर बैठाकर बगल वाले गाँव चला गया। पयू ने गाँव के बड़े बुजुर्गों को इकट्ठा किया और इस मामले को जिरगा में ले गया।

सब इस बात पर सहमत हुए कि दुर्खानी पयू खान की बीवी है और उसे उसके पास वापस आना ही होगा। दुर्खानी पयू खान के पास लौट तो आई मगर उसने विद्रोह कर दिया। आदम खान भी पागल हो गया और जंगलों में इधर उधर पागलों की हालत में भटकने लगा। जुदाई का मारा वह बेचारा जब एक दिन जंगल में ही गिर पड़ा तो वहां से गुजरते हुए कुछ हिंदू जोगियों की नजर उस पर पड़ी। उन्होंने उसकी सेवा सुश्रूषा की और उसे ठीक कर दिया। आदम खान ने मुंडन करा लिया और वह भी जोगियों का ही बाना पहनकर उन्हीं संतों के साथ रहने लगा। उसने उन संतों को अपनी कहानी सुनाई और उन जोगियों ने उसकी सहायता करने का निश्चय किया। वह सभी एक साथ बाजदरा गए, जहाँ पर कोई भी आदम खान को नहीं पहचान सकता था। जब वह पयू खान के घर पहुंचे तो वह आदर सहित घर के भीतर ले गया और उनका आदर सत्कार किया और उन्हें भोजन के लिए कहा। योगियों ने कहा कि उन्हें लग रहा है कि वह भीतर से बहुत दुखी है और उन्होंने कहा कि वह उसका कारण भी जानते हैं। अपनी बीवी के कारण दुखी पयू ने सोचा कि क्यों न उसे दिखाया जाए। एक पागल औरत की तरह दुर्खानी सामने आई मगर जैसे ही उसने गंजे सिर में आदम को देखा, वह शांत हो गई। पयू यह देखकर इतना हैरान हो गया कि उसने उन योगियों को अपने बगीचे में टिकने का निमंत्रण दिया। आदम और दुर्खानी दोनों ही ठीक हो गए और फिर योगी अपने तप और ध्यान के लिए वापस चले गए। आदम खान भी अपने घर जाने लायक ठीक हो गया था, मगर दुर्खानी से अलग होते ही वह एक बार फिर से दुख से भर उठा। उसके पिता ने उसकी शादी के लिए एक बहुत सुंदर लड़की गुलनाज को चुना। गुलनाज को आदमखान की दुर्खानी के प्रति दीवानगी के बारे में पता था। गुलनाज ने अपने होने वाले पति के दर्द को सुना और कुछ हद तक उसके दर्द को कम भी किया। दुर्खानी भी आदम खान के बिना ठीक नहीं रह पाई। पयू ने एक और शादी कर ली और दुर्खानी को भी रखे रहा। आदम खान बाजदरा निकला और दुर्खानी के लिए इतना रोया कि अपनी दृष्टि गँवा बैठा। दुर्खानी के बगीचे की दीवार तक पहुंचने की भीख मांगता हुआ वह बेचारा उस बगीचे तक पहुँचने से पहले ही जिंदगी की जंग हार गया। इस उड़ती खबर ने दुर्खानी का भी नाता इस दुनिया से तोड़ दिया। दोनों को इस तरह देखकर देखकर पायु ने पछतावा दिखाते हुए, आदम खान के ही बगल में उसे दफना दिया। वर्षों बाद जब उन प्रेमियों की कब्रों को गलती से खोदा गया तो लोग दोनों शरीरों को एक ही कब्र में देखकर हैरान थे। उन्होंने उन्हें अलग अलग किया और फिर से कब्रें बना दी गई। एक सदी बाद जब उनकी कब्रों को फिर से खोदा गया, तो फिर दोनों एक ही कब्र में मिले, इस बार लोगों ने उन्हें इसी हाल में रहने दिया। मरने के बाद ही सही दो प्रेमी एक हुए! ■

साभार: https://en.wikipedia.org/wiki/Talk%3AAdam_Khan_and_Durkhanai

सोनाली मिश्रा

गंधर्व विवाह की भूमि पर प्रेम

भारतीय संस्कृति में प्रेम भी अंधकार से प्रकाश और मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाने वाला ही माना गया है। प्रेम की पूर्णता का ही एक माध्यम है विवाह। भारतीय समाज में विवाह के मान्य रूपों में से एक है गंधर्व विवाह, जिसका गंधार क्षेत्र से सीधा संबंध माना जाता है। विवाह के इस विधान के लिए स्त्री-पुरुष का प्रेम ही पर्याप्त है। आज उसी भूमि में विफल प्रेम की कहानियां आदर्श रूप में प्रचलित हैं। इस परिवर्तन पर एक दृष्टि

कहा जाता है कि यदि प्रेम प्राप्त हो जाए तो वह पूर्ण प्रेम नहीं होता, वह अधूरा रहता है! जैसे ही प्रेमी और प्रेमिका का मिलन हुआ, प्यार का अर्थ समाप्त हुआ! ऐसा कहने वाले लैला-मजनू, शीरी-फरहाद और हीर-रांझा की कहानियां सुनाते हैं। ये सभी कहानियां प्यार में मृत्यु पाकर अमर होने की कहानियाँ हैं और सभी कहानियों में प्यार अधूरा है, मिलन नहीं है! लैला की कहानी जिसमें मजनू उससे बेहद प्यार करता है और उससे विवाह करना चाहता है, वह उसे कभी नहीं पा पाता। लैला की शादी उसके घरवाले कहीं और कर देते हैं और कैस उसके प्यार में मजनू बन जाता है! किस्मत ऐसी कि वह अपने माता-पिता के अंतिम समय में भी उनके पास नहीं है! लैला अपने कैस से न मिल पाने के कारण मौत का वरण करती है और कैस अर्थात मजनू भी अपने प्राण त्याग देता है, तथा इस प्रकार यह प्यार अमर हो जाता है। यही कहानी सोहनी-महिवाल के साथ है! इन कहानियों में मात्र प्रेम की अपूर्णता ही मुख्य तथ्य नहीं है, बल्कि इन कहानियों का एक क्षेत्र विशेष से संबद्ध होना भी एक विशेषता है। ये कहानियां पंजाब से लेकर पाकिस्तान और अफगानिस्तान अर्थात सिंध से लेकर गंधार क्षेत्र और उसी परिवेश की कहानियां हैं एवं यह एक कालविशेष एवं तहजीब विशेष के आगमन उपरांत की कहानियाँ हैं।

प्रेम की अपूर्णता ही इन प्रेम कहानियों की वह विशेषता है जो एक क्षेत्र विशेष के आधार पर प्यार की अवधारणा का विकास करती है। परंतु जब हम इन क्षेत्रों के इतिहास की तरफ मुड़ते हैं तो हमारा साक्षात्कार अत्यंत ही भिन्न संस्कृति और भिन्न तथ्यों से होता है। किसी भी क्षेत्र का इतिहास काल के अनुसार परिवर्तित होता रहता है तथा हर कालखंड की अपनी अपनी विशेषता होती है। जैसी विशेषता इस्लाम के उस क्षेत्र में आगमन के उपरांत परिलक्षित होती है। वर्तमान में तो वहां प्रेम पर पूर्णतया प्रतिबंध जैसा है। वैलेंटाइन डे पर जहां पूरे विश्व में अपने प्रेमी के समक्ष प्रेम व्यक्त किया जाता है, वहीं कंधार अर्थात अतीत के गंधार क्षेत्र में प्रेम व्यक्त करना अब एक साहस का विषय हो चुका है एवं इस क्षेत्र के विषय में पश्चिमी मीडिया लिखता है Budding industry: Valentine's Day blooms in conservative Afghanistan। अर्थात पिछड़ा अफगानिस्तान!

यह पूरा भूभाग सदा से ही प्रेम का शत्रु रहा हो ऐसा नहीं है। ऐसा नहीं है कि इतिहास में इस विशाल भूभाग में किसी ने प्रेम ही न किया हो। इस्लामी सभ्यता के कदम रखने से पूर्व इस क्षेत्र में फैले सनातन धर्म में तो प्रेम के हर रूप को प्रमुखता दी गई है। धर्म, अर्थ, काम और उसके उपरांत ही मोक्ष की कामना है! परंतु काम भी वही जिसमें स्त्री की सहमति हो। जैसा मनुस्मृति में भी प्राप्त होता है:

योऽकामां दूषयेत्कन्यां स सद्यो वधमर्हति।
सकामा दूषयंस्तुल्यो न वधं प्राप्नुयान्नरः॥[1]

अर्थात, कन्या के साथ बलात संभोग करने वाले पुरुष को तत्काल ही मृत्युदंड देना चाहिए।

प्रेम तो मानव की शाश्वत भावना है, यह मात्र जीवन का आधार न होकर किसी भी राष्ट्र के निर्माण के लिए भी आवश्यक है क्योंकि जब मानव पूर्ण हृदय से प्रेम करेगा तो स्वस्थ एवं प्रसन्न संतानों का जन्म होगा, एवं यही स्वस्थ एवं प्रसन्न संतानें अपने राष्ट्र में प्रसन्नचित होकर कार्य कर पाएंगी। प्रेम वैयक्तिक न होते भी वैयक्तिक

होता है, एवं सामूहिक न होते हुए भी समाज से जुड़ा होता है। जैसा कि उक्त मंत्र में परिलक्षित होता है:

"अभिवर्धतं पायासा अभि-राष्ट्र-त्रेमा वर्धतम
राम्या सहस्रवर्चसा इमो स्तं अनुपेक्षितु।"
अर्थात यह नववधु एवं वर दुग्ध से शक्ति प्राप्त करें एवं राष्ट्र की प्रगति के साथ प्रगति करें।[2]

वर्तमान सिंध, कंधार, काबुल आदि क्षेत्र जहां की अतृप्त प्रेम की कहानियाँ हैं, वह पूर्व में भारत का ही अंग था। कंधार अर्थात गंधार का उल्लेख ऋग्वेद में प्राप्त होता है। रामायण में भी इसका उल्लेख है। क्या वहां प्रेम की यही अतृप्त कहानियां होती थीं? क्या वहां प्रेम की स्वतंत्रता नहीं थी? या आज जो बंदूकों के साए में बुद्ध हैं, वह सदा से यूं थे, प्रेम की भांति खंडित, प्रेम की भांति शापित? प्रेम को शापित करने का आरंभ कब से हुआ होगा? क्योंकि गंधार तो स्वर्ग तुल्य था। एक स्वर्ग तुल्य क्षेत्र, जिस क्षेत्र के निवासी गायन, नृत्य में प्रवीण थे, जिस क्षेत्र के निवासी गंधर्व युद्ध कौशल में माहिर थे। जिस क्षेत्र के सौंदर्य ने रामायण काल में राम का भी ध्यान आकर्षित किया तथा राम तक यह संदेशा भिजवाया गया कि गंधर्वदेश बहुत से फल और मूलों से सुशोभित है, यह गंध र्व देश सिंधु नदी के दोनों तटों पर बससा है तथा युद्ध विशारद शस्त्रधारी गंधर्व लोग इस देश की रक्षा करते हैं।

सिन्धोरूभयतः पार्श्वे देशः परशोभमनः।
तं च रक्षन्ति गन्धर्वाः सायुधा युद्धकोविदाः।।[3]
गन्धर्वों के युद्ध कौशल एवं वीरता के विषय में आगे वाल्मीकि लिखते हैं कि
ततः समभवद्युद्धं तुमुलं लोमहर्षाणम।
सप्तरात्रं महाभीमं न चान्यतरयोर्जयः।।[4]
अर्थात राम की सेना, जिसका नेतृत्व भरत कर रहे थे, से उन गन्धर्वों ने सात दिन एवं सात रातों तक रोंगटे खड़े करने वाला युद्ध किया, परंतु दोनों पक्षों में से किसी की हारजीत न हुई!

उक्त उद्धरण यह स्पष्ट करने में सक्षम है कि गंधार क्षेत्र में निवास करने वाले गंधर्व बलशाली थे, एवं अपने शत्रुओं को हर हाल में परास्त करने में सक्षम थे। परंतु समय के साथ ऐसा क्या हुआ कि यही बलशाली गंधारवासी अपनी ही संततियों के शत्रु बन गए, अपनी ही संतानों के प्रेम के शत्रु हो गए?

गंधार अत्यंत ही विस्तृत गणराज्य था। एक समय तक इस राज्य की सीमा भूमध्य सागर तक फैली हुई थी। इसी क्षेत्र के निवासी गंधर्व कहलाते थे, जिन्हें उपदेवों की संज्ञा प्रदान की गई थी। हिमालय में रहने वाली वह उपदेव जातियां जो सात सुरों में भी हैं। सा, रे, गा, मा, पा, धा, नी, सा में गा का अर्थ गांधार से है। यह जातियां देवासुर युद्ध में देवों का साथ देती थीं। गंधर्वों की व्यूह रचना को समझना वीर से वीर योद्धा के लिए समझना संभव न था। संगीत में पारंगत यह गंधर्व इतने वीर थे कि जब वह हिमालय की तराई में बसे और अपना राज्य स्थापित किया तो अधिकाँश मानव, राजा और सम्राट इनसे मित्रता रखते थे।

महाभारत काल में गंधर्वराज चित्ररथ की वीरता अर्जुन से किसी भी प्रकार कम नहीं थी और वह अर्जुन का मित्र भी था। महाभारत के आदिपर्व में भी गंधर्वों की उत्पत्ति का वर्णन प्राप्त होता है। और उसमें अतिबाहु, हाहा, एवं हूहू तथा तुंबुरु नामक महान गंधर्वों का भी उल्लेख है। तुंबुरु, नारद, हाहा, हूहू गंधर्व संगीत में पारंगत थे तथा वह स्वर्ग में इंद्र की सभा को संगीतमय किए रहते थे। संगीत कला पर तो जैसे मात्र गंधर्वों का ही एकाधिकार था। विश्वावसु भी संगीत का आचार्य था। संगीत का नाम ही गंधर्व वेद कहा गया है।

इसी प्रकार गंधर्व जाति की स्त्रियों को अप्सरा कहा गया। यह स्त्रियाँ अलौकिक रूप, लावण्य की स्वामिनी एवं ललित कलाओं में प्रवीण हुआ करती थीं। अप्सराएं विवाह करने के लिए स्वतंत्र हुआ करती थीं! अप्सराओं में कुछ अप्सराएं दिव्य सौंदर्य की धनी थीं। उर्वशी और पुरुरवा की प्रेम कहानी तो विरह एवं मिलन की अनुपम कहानी है।

गंधार प्रदेश के निवासी गंधर्व सामाजिक जीवन में उन्मुक्त थे। प्रेम को लेकर उनके विचार अत्यंत ही स्वतंत्र थे। उर्वशी ने बंधन में बंधना चाहा तो उसने पुरुरवा से विवाह किया। गंधर्वों के समाज में विवाह के लिए किसी कड़े नियम की आवश्यकता नहीं थी। युवक एवं युवतियां स्वेच्छा से अपने सहचर का चयन करने के लिए स्वतंत्र होते थे।

इस विधि को गंधर्व विवाह कहा गया था। मेनका नामक अप्सरा ने विश्वामित्र नामक ऋषि की तपस्या भंग करने हेतु पर्याप्त रमण किया था तथा विश्वामित्र से उन्हें एक पुत्री भी हुई, शकुंतला। उसी शकुंतला ने दुष्यंत से गंधर्व विवाह किया था, जिनके पुत्र भरत के नाम पर इस भूमि का नाम भारत पड़ा!

गंधर्व विवाह विवाह का वह प्रकार है जिसमें स्वेच्छा से जीवनसाथी का चयन कर स्त्री एवं पुरुष विवाह करते थे तथा समाज के सम्मुख अपने जीवनसाथी को प्रस्तुत करते थे। समाज में उन दिनों आठ प्रकार के विवाह प्रचलित थे। मनुस्मृति के अनुसार

ब्राह्मणों दैवस्तयैवार्थः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चौव
पैशाचश्चाष्टमोऽधयः।।[5]
अर्थात आठ प्रकार के विवाह होते हैं, ब्राह्मण विवाह, देव विवाह, आर्ष विवाह, प्रजापत्य विवाह, आसुर विवाह, गंधर्व विवाह, राक्षस विवाह एवं पिशाच विवाह। ब्राह्मण विवाह को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है क्योंकि इसमें दोनों पक्षों की सहमति से समान वर्ग के सुयोग्य वर को स्वयमेव आमंत्रित कर उसे वस्त्र आभूषण आदि अर्पित कर समुचित रूप से पूजन एवं विधि-विधान से कन्या को सौंपा जाता है।

देव विवाह के अंतर्गत यज्ञ कर्मों में लिप्त विद्वानों को कन्या सौंपी जाती थी।

गंधार प्रदेश के निवासी गंधर्व सामाजिक जीवन में उन्मुक्त थे। प्रेम को लेकर उनके विचार अत्यंत ही स्वतंत्र थे। उर्वशी ने बंधन में बंधना चाहा तो उसने पुरुरवा से विवाह किया। गंधर्वों के समाज में विवाह के लिए किसी कड़े नियम की आवश्यकता नहीं थी। युवक एवं युवतियां स्वेच्छा से अपने सहचर का चयन करने के लिए स्वतंत्र होते थे

आर्ष विवाह में वर पक्ष से एक जोड़ा गाय या बैल लेकर कन्या का विवाह किया जाता था। प्राजापत्य विवाह में विवाहोत्सुक स्त्री पुरुष को वर कन्या के रूप में स्वीकार कर तथा उनका समुचित रूप से स्वागत सत्कार कर वर को कन्या प्रदान की जाती है। यह विवाह ब्राह्मण विवाह का संक्षिप्त रूप कहा जा सकता है क्योंकि इसमें ब्रह्म विवाह के उस नियम का पालन नहीं होता कि पिता की तरफ से सात और माता की तरफ से पांच पीढ़ियों तक विवाह संबंध नहीं होंगे। आसुर विवाह में कन्या पक्ष द्वारा धन लेकर विवाह किया जाता है। उसके उपरांत आता है गंधर्व विवाह, जिसमें कन्या और वर अपनी इच्छा से अग्नि को साक्षी मानकर विवाह करते हैं। परिवार को इस विषय में बाद में पता चलता है।

राक्षस विवाह और पिशाच विवाह धर्मस्वीकृत नहीं माने गए हैं, बल्कि त्याज्य माने गए हैं क्योंकि दोनों में ही कन्या की इच्छा नहीं है, एवं कन्या तथा कन्या पक्ष को डरा धमका कर कन्या से विवाह किया जाता है। पैशाच विवाह निकृष्टतम माना गया है क्योंकि इसमें जब कोई कन्या सोई हो, भटकी हो, नशे की हालत में हो, तब कोई उसके साथ शारीरिक संबंध बनाकर अथवा अन्यथा विवाह कर लेता है। राक्षस विवाह तक में कन्या के साथ दुष्कर्म से बचा जाता है, परंतु पिशाच विवाह तो यह भी नहीं मानता। तभी सनातन में इन दो विवाहों को निकृष्टतम मानते हुए इन्हें त्याज्य समझा गया है।

महाभारत में गंधर्व विवाह के विषय में ही बोलते हुए दुष्यंत शकुंतला से कहते हैं कि गुरूजी अर्थात कण्व ऋषि कुछ नहीं कहेंगे क्योंकि बहुत सी राजर्षियों की कन्याओं ने इस विधि से विवाह किया है तथा उन्हें स्वीकारा भी गया है।

गंधर्व विवाह के अतिरिक्त गंधर्वों में अनुबंधीय विवाह का प्रचलन था। इस प्रकार के विवाह का उदाहरण उर्वशी एवं पुरूरवा का विवाह है, जिसमें अप्सरा उर्वशी ने राजा पुरुरवा के सम्मुख विवाह के लिए तीन शर्तें रखी थीं। और उल्लंघन हो जाने पर वह राजा पुरुरवा को छोड़कर चली गई थी, तथापि यह पुरुरवा एवं उर्वशी का प्रेम था जिसके कारण उनका मिलन हुआ। इस

महाभारत में गंधर्व विवाह के विषय में ही बोलते हुए दुष्यंत शकुंतला से कहते हैं कि गुरूजी अर्थात कण्व ऋषि कुछ नहीं कहेंगे क्योंकि बहुत सी राजर्षियों की कन्याओं ने इस विधि से विवाह किया है तथा उन्हें स्वीकारा भी गया है। गंधर्व विवाह के अतिरिक्त गंधर्वों में अनुबंधीय विवाह का प्रचलन था। इस प्रकार के विवाह का उदाहरण उर्वशी एवं पुरूरवा का विवाह है, जिसमें अप्सरा उर्वशी ने राजा पुरुरवा के सम्मुख विवाह के लिए तीन शर्तें रखी थीं। और उल्लंघन हो जाने पर वह राजा पुरुरवा को छोड़कर चली गई थी

कहानी में विरह था, परंतु यह विरह स्थाई नहीं था, जैसा हमें इस्लामी प्रेम कहानियों में मिलता है।

इस्लाम में जन्नत की अवधारणा भ्रामक है। इस दुनिया में कर्म करो और जन्नत में उसका परिणाम प्राप्त होगा। भारत भूमि पर इस्लाम के जितने भी आक्रमण हुए वह धन के लिए तो हुए ही थे, उनमें काफिरों को नेस्तनाबूद करने की तीव्र लालसा भी थी। तभी इस्लामी आक्रमण के बाद हिंदुओं के कटे हुए सिरों की मीनारें बनवाना उनका सबसे प्रिय शगल था। भारत पर इस्लामी आक्रमण छठी शताब्दी से ही आरंभ हो गए थे। गंधार और मुल्तान के रास्ते मुस्लिम आक्रमणकारी भारत में प्रवेश करने लगे थे। उनका मुख्य उद्देश्य संस्कृति का विनाश करना था। जहां सातवीं शताब्दी तक गंधार क्षेत्र में बौद्ध एवं हिन्दू संस्कृति अपने चरमोत्कर्ष पर थी वहीं विश्वप्रसिद्ध बामियान, बल्ख जिलों में हजारों के संख्या में बौद्ध विहार थे, तथा गंधार में शैव संप्रदाय भी प्रचलित था।

इस्लाम के तीव्र आक्रमणों ने ज्यों ज्यों संस्कृति में परिवर्तन किया, वैसे वैसे प्रेम के प्रति भी अवधारणा परिवर्तित होती चली गई। सनातन में स्त्री और प्रेम के प्रति जो उन्मुक्तता थी वह शनैः शनैः कड़े परदे में सिमटती हुई चली गई। इस्लामी आक्रमणकारियों ने कुरआन की इस आयत का अनुसरण किया कि पूर्व और पश्चिम भी अल्लाह का है, अतः जिस ओर भी मुंह फेरो, वहीं अल्लाह की झलक पाओगे। निस्संदेह अल्लाह बहुत विस्तार प्रदान करने वाला और स्थायी ज्ञान रखने वाला है।[6]

इसी प्रकार जहां सनातन में प्रेम परस्पर आदर पर आधारित था, वहीं इस्लाम के आने के साथ प्रेम का अर्थ धर्म परिवर्तन भी हो गया क्योंकि कुरआन में स्पष्ट लिखा है कि मुश्रिक स्त्रियों से निकाह न करो, जब तक वह ईमान न ले आएं और निश्चित ही एक मोमिन दासी एक स्वतंत्र मुश्रिक स्त्री से उत्तम है, चाहे वह तुम्हें कैसी भी प्रिय हो! इसी के साथ जहां सनातन में स्त्रियों के प्रति दांपत्य प्रेम में बलात संबंध का विरोध था तो वहीं इस्लाम में यह स्पष्ट है कि पुरुषों के लिए स्त्रियाँ उनकी खेती हैं।[7]

यह जो अवधारणात्मक अंतर था इसने प्रेम के प्रति अवधारणा और स्त्री के प्रति अवधारणा को परिवर्तित करके रख दिया। इश्क किया है तो जन्नत में मिलने पर सबाब मिलेगा, इस धरती पर यह पाप है, इसने प्रेम के स्वरुप को बदल दिया। जहां स्त्री को खेती माना गया वहां पर सोच स्त्री के प्रति निरंतर कट्टर होती चली गई और इस सोच ने प्रेम पर प्रहार किया। वह क्षेत्र जहां पर प्रेम विवाह का सबसे प्राचीन रूप अपना स्वरुप ग्रहण कर चुका था, शनैः शनैः प्रेम के लिए कब्रगाह बनने लगा।

इसी प्रकार सनातन में विवाह विच्छेद की अवधारणा नहीं थी, विवाह अर्थात सात जन्मों का बंधन! जन्म-जन्मांतर तक एक ही पुरुष एवं एक ही स्त्री की आकांक्षा लेकर प्रेम में प्रवेश करना! यह प्रेम की वह उच्च अवस्था थी, जिसके विषय में इस्लामी आक्रमणकारी सोच नहीं सकते थे, क्योंकि इस्लाम में विवाह को एक अनुबंध माना गया है। जो आज हो रहा है, वह कहीं न कहीं मूल संघर्ष है, मूल विवाद है स्त्री पर अधिकार का। स्त्री को वस्तु एवं स्त्री को व्यक्ति मानने का। जहां सनातन परंपरा में स्त्री का अधिकार प्रेम एवं साहचर्य के साथ रहा वहीं इस्लाम में यह मात्र धन के आधार पर संबंध बनाने को लेकर रहा, तथा इस्लाम में

मुख्यत: स्त्री को वस्तु ही समझा गया है।

जब स्त्री के प्रति विचार परिवर्तित होते हैं तो प्रेम के प्रति विचार परिवर्तित होते हैं। यही कारण है कि जहां गंधार की सनातन परंपरा में इस धरती पर ही धर्म, अर्थ, काम के सम्मिश्रण से मोक्ष की अवधारणा रही तब तक स्त्री स्वतंत्र रही, प्रेम स्वतंत्र रहा। प्रेम इस सीमा तक स्वतंत्र रहा कि विश्व में जब किसी भी सभ्यता में विवाह की अवधारणा का विकास अपनी बाल्यावस्था में था, तब गंधार में कन्या स्वतंत्र होकर अपनी इच्छा से अपना वर चुन रही थी। एवं यह मात्र गंधार तक ही सीमित नहीं था, बल्कि गंध र्वों की कामेच्छा एवं प्रेम की उन्मुक्तता के कारण इस विवाह का नाम गंधर्व विवाह हो गया था।

आज भी गंधार की भूमि पर प्रेम का आदर है, परंतु वह उसी प्रेम का आदर करते हैं जो इस धरती पर मिल नहीं पाए। वह उस प्रेम का आदर नहीं करते जिन्होनें किसी भी हाल में अपने प्रेम को नहीं छोड़ा, अपने प्रेम को कभी अपमानित नहीं किया। आज गंधार की भूमि पर उससे सटे मद्रदेश की राजकुमारी सावित्री की प्रेमकथा को नहीं पूजा जाता है, जबकि वह प्रेम का सबसे बड़ा उदाहरण है। वह दांपत्य प्रेम का ऐसा उदाहरण है जिसका पालन हर हिंदू स्त्री करना चाहती है। मद्रदेश की राजकुमारी सावित्री को एक ऐसे व्यक्ति से प्रेम हुआ था जिसकी आयु मात्र एक वर्ष ही शेष थी। परंतु उसका प्रेम इतना प्रबल था कि उसने सत्यवान से विवाह करना चुना! मद्र नरेश ने भी अपनी पुत्री के प्रेम का मान रखते हुए उसका विवाह सत्यवान से करवा दिया। सावित्री अपने पति सत्यवान को यमराज के हाथों से छीन कर ले आई थीं। यह प्रेम है! भारतीय प्रेम मिलन में मोक्ष खोजता है, मिलन में पूर्णता खोजता है, जबकि तहजीबी प्यार जुदाई में प्यार को अमर रूप देता है। अल्लाह के दरबार में मिलने पर उसका जोर है, जबकि सनातन परंपरा के अनुसार इस ध रती पर किए गए कर्म के परिणामस्वरुप ही जीव को अगला जन्म प्राप्त होगा या मोक्ष प्राप्त होगा।

जब स्त्री के प्रति विचार परिवर्तित होते हैं तो प्रेम के प्रति विचार परिवर्तित होते हैं। यही कारण है कि जहां गंधार की सनातन परंपरा में इस धरती पर ही धर्म, अर्थ, काम के सम्मिश्रण से मोक्ष की अवधारणा रही तब तक स्त्री स्वतंत्र रही, प्रेम स्वतंत्र रहा। प्रेम इस सीमा तक स्वतंत्र रहा कि विश्व में जब किसी भी सभ्यता में विवाह की अवधारणा का विकास अपनी बाल्यावस्था में था, तब गंधार में कन्या स्वतंत्र होकर अपनी इच्छा से अपना वर चुन रही थी

अत: स्पष्ट है कि प्रेम की प्रबलता एवं प्रेम की नश्वरता मात्र संस्कृति के परिवर्तन से परिवर्तित हो जाती है। आक्रमणकारी संस्कृति सदैव ही प्यार का दमनात्मक रूप प्रस्तुत करती है एवं उसी में अपना ईश्वर खोजती है, क्योंकि वहां ईश्वर साकार नहीं है! सनातन में सब कुछ अपने साकार रूप में है! यहाँ तक कि भगवान भी, अपने भक्तों के लिए साकार रूप लेकर ही सामने आते हैं।

आज बुद्ध की भूमि अफगानिस्तान में, अशोक के गंधार में जिस प्रकार जाकिया एवं अली जैसे प्रेमी अपने भाग्य से बचते घूम रहे हैं, वह दुर्भाग्यपूर्ण है। दुर्भाग्यपूर्ण है कि जिस दिन उन्हें मार डाला जाएगा, वह पूज्य हो जाएंगे जैसे लैला-मजनू हो गए! लैला और मजनू मिलन की आस लिए हुए, अपने लोगों के पत्थरों से बचते हुए प्यासे होकर राजस्थान की सीमा पर आकर मरे! काश कि ऐसा न होता कि प्यार कुर्बानी माँगता! काश ऐसा होता कि प्रेम सावित्री के रूप में जीवित रहता, मद्रदेश की राजकुमारी द्वारा निर्धारित किए गए मानकों पर प्रेम अपना स्वरुप प्राप्त करता!

परंतु जब अवधारणात्मक संघर्ष हो वहां पर इन काश का कोई अर्थ नहीं होता! इतिहास और स्मृति का द्वंद्व युवाओं को प्रेम करने से रोक नहीं सकता और न ही स्वयं की कुर्बानी देने से रोक सकता है। प्रेम को शापित सभ्यताएं ही करती हैं, परंतु कौन सी सभ्यताएं यह समझना आवश्यक है। ■

संदर्भ संकेत

1. *मनुस्मृति- आठवाँ अध्याय 364*
2. *लाल, चमन, इंडिया मदर ऑफ अस आल, सुरुचि प्रकाशन दिल्ली, पृष्ठ-28*
3. *वाल्मीकि रामायण उत्तरकाण्ड शततम सर्ग, 11*
4. *वाल्मीकि रामायण उत्तरकाण्ड एकोत्तरशततम सर्ग, 5*
5. *मनुस्मृति 3/21*
6. *https://www.alislam.org/quran/Holy-Quran-Hindi.pdf*
7. *https://www.alislam.org/quran/Holy-Quran-Hindi.pdf*

लोया जिरगा

लोया जिरगा वह कानून संहिता है, जो अफगानिस्तान, पाकिस्तान और पश्तूवली में आस पास रहने वाले पश्तुन लोगों पर लागू होती है। यह एक विशेष प्रकार का जिरगा होती है जो प्रान्त प्रमुख की अचानक मृत्यु होने पर नया प्रमुख चुनने के लिए, नया संविधान अपनाने के लिए, या युद्ध जैसे राष्ट्रीय या प्रांतीय मुद्दों को हल करने के लिए आयोजित की जाती थी। यह आधुनिक लिखित और निर्धारित किए गए कानूनों को बताती है और न केवल पश्तून लोगों के विवाद सुलझाती है मगर यह उन लोगों के विवाद भी सुलझाती है, जो पश्तुन से प्रभावित होते हैं। (ऐतिहासिक रूप से अफगान)।

अफगानिस्तान में, लोया जिरगा का आयोजन 18वीं शताब्दी से हो रहा था, जब होताकी और दुरानी वंश सत्ता में थे। ■

प्रो. इश्तियाक अहमद

तक्षशिला : एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक केंद्र

तक्षशिला, जो अपने बहुविषयक विश्वविद्यालय के लिए प्रख्यात है, अतीत में न केवल बौद्धिक बल्कि एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक केंद्र भी थी। इसकी सभ्यताजन्य एवं आर्थिक समृद्धि को लेकर विभिन्न अंतरराष्ट्रीय ग्रंथों में इसका उल्लेख मिलता है

विश्व के इतिहास में, अनेकानेक महान सभ्यताओं का उदय हुआ है और मनुष्य के ज्ञान, शिक्षा, जीवन और संस्कृति पर उनका व्यापक प्रभाव पड़ा है। इसमें कोई संदेह नहीं कि तक्षशिला इनमें से एक थी। विश्व संस्कृति, परंपरा, कला और शिक्षा के दृष्टिकोणों से भारतीय प्रायद्वीप और मध्य एशिया के बीच शिक्षा का महान केंद्र और महत्वपूर्ण सांस्कृतिक उत्केंद्र तक्षशिला अति महत्वपूर्ण थी। जब हम भारतीय प्रायद्वीप का उल्लेख करते हैं, तो हमारे मस्तिष्क में इतिहास के कालक्रम में महान भारतीय राजाओं के अति महान और विशाल साम्राज्य का चित्र उभर आता है। महान तक्षशिला के अवस्थान और सामरिक महत्व को समुचित ढंग से समझने के लिए, उस समय के मध्य एशिया के क्षेत्रों पर प्रकाश डालना भी समीचीन है। प्राचीन काल में, मध्य एशिया के तत्कालीन क्षेत्र, हालाँकि उनके नाम अलग-अलग हैं, पूर्व में चीन से पश्चिम में कैस्पियन सागर तक और उत्तर में रूस से दक्षिण में अफगानिस्तान तक फैले हुए थे।

तक्षशिला को एक महत्वपूर्ण पुरातात्विक क्षेत्र माना जाता है। तक्षशिला का पुरातात्विक अवस्थापन कई अर्थों में महत्वपूर्ण है और प्राचीन भारत के इतिहास का विश्लेषण करने हेतु मुख्य स्रोतों के निर्धारण में इसका योगदान अहम है। वस्तुतः, एक संस्कृति और सभ्यता के रूप में, तक्षशिला ने वैदिक युगों, महाभारत युग और बुद्ध, महान मौर्यों और गुप्तों के युग के बीच योजक बिंदु तथा बौद्धिक कड़ी की भूमिका निभाई है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से, तक्षशिला शब्द की उत्पत्ति और उसके अर्थ का निर्धारण करना कठिन था, जो बीतते समय और युगों के साथ-साथ ऐतिहासिक दृष्टि से बदल चुका है। तक्षशिला संस्कृति की प्रमुख भाषाओं, यानी संस्कृत और पालि, में यह शब्द अलग-अलग अर्थों और व्याख्याओं के साथ कई रूपों में प्रस्तुत किया गया है। प्रत्यक्ष रूप में, संस्कृत मंद तक्षशिला और पालि में तक्कसिला का अर्थ 'शिलाखंड की नगरी' या 'तक्ष शिला' के रूप में बताया गया है।[1]

शिक्षा के एक महत्वपूर्ण केंद्र के रूप में तक्षशिला 1000 ईसा पूर्व से 500 ई. पर्यंत सक्रियता से इस सीमा तक उत्कर्ष पर रही कि शिक्षा प्राप्त करने के लिए महाद्वीप के अन्य भागों से राजकुमार यहाँ भेजे जाते थे। साइरस महान (558-530 ई. पू.) के युग में, उत्तर-पश्चिम में तक्षशिला नगरी पहले से ही शिक्षा और व्यापार का एक केंद्र बन चुकी थी। मगध के युवाओं को अपनी शिक्षा पूरी करने के लिए वहाँ भेजा जाता था, और बिंबिसार का पुष्करसरिन (पालि में पुक्कुसती) के साथ कूटनीतिक संबंध था, तक्षशिला संभवतः जिसके साम्राज्य का अंग थी।[2] बिंबिसार एक विद्वान् राजा था। जैसा कि बौद्ध ग्रंथों में उल्लेख मिलता है, बिंबिसार पर बुद्ध की शिक्षा का गहरा प्रभाव था और वह बुद्ध का एक शिष्य बन गया था। बर्मा कला में भी बिंबिसार को अपना साम्राज्य बुद्ध को समर्पित करते दिखाया गया है। इससे स्पष्ट है कि धार्मिक शिक्षा और आध्यात्मिकता के उस युग में बिंबिसार की इस क्षेत्र पर शासन करने की कोई लालसा और आकांक्षा नहीं थी और उसने निश्चय ही लोक कल्याण के हित में अपना साम्राज्य समर्पित किया होगा। स्रोतों का यह तथ्य भी उतना ही विस्मयकारी है कि भगवान बुद्ध की मृत्यु से कोई सात वर्ष पूर्व बिंबिसार को उसके अपने बेटे अजातशत्रु ने सिंहासन से उतारा, कारागार में डाला और उसकी हत्या कर दी।[3]

महान सांस्कृतिक और बौद्धिक केंद्रों में से एक के रूप में, तक्षशिला के पास भेंट करने को

और भी बहुत कुछ था। तक्षशिला के युग में भारतीय उपमहाद्वीप के भूभाग में शिक्षा के कई अन्य केंद्र थे। नालंदा 600 वर्षों तक बौद्ध धर्म के अग्रणी शिक्षा केंद्रों में से एक के रूप में दूर-दूर तक प्रख्यात था, यह भारत का पहला विश्वविद्यालय था, जिसे उसके लिखित इतिहास के लिए और क्षेत्र में विद्यमान अनेकानेक बौद्ध मठों के लिए जाना जाता था। किंतु तक्षशिला की स्थिति एकदम अलग थी। यह अपनी विशिष्ट संस्कृति, शिक्षा की विशिष्ट प्रणाली और धार्मिक प्रवचनों के महान स्थल के रूप में जानी जाती थी। तक्षशिला गंधार के प्राचीन राजधानी नगर और शिक्षा के एक जीवंत केंद तथा विश्व के प्राचीनतम विश्वविद्यालयों में से एक के रूप में दूर-दूर तक प्रसिद्ध है। यह धार्मिक और ऐतिहासिक गरिमा के लिए विख्यात है क्योंकि वैदिक शिक्षा प्रणाली में यहाँ हिंदू और बौद्ध दोनों धर्मों का स्वाभाविक रूप से वर्चस्व था। बहुत से लोगों का मानना है कि महाभारत कथा का वाचन सबसे पहले यहीं हुआ।

विभिन्न ऐतिहासिक स्रोतों में यह उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है कि धर्म की शिक्षा के लिए चाणक्य चंद्रगुप्त मौर्य को तक्षशिला ले गए थे। चंद्रगुप्त मौर्य ने सैन्य विज्ञान समेत उस युग के सभी विज्ञानों और कलाओं की शिक्षा ग्रहण की। वह आठ वर्षों तक शिक्षा के इस महान केंद्र का छात्र रहा। अर्थशास्त्र की रचना चाणक्य ने यहीं की। दर्शन शास्त्र, खगोल विद्या, सैन्य विज्ञान, राजनीति, चिकित्सा, गणित, विज्ञान, भाषाएँ और साहित्य आदि तक्षशिला की शिक्षा प्रणाली में पाठ्यक्रम के मुख्य विषय थे। संस्कृत और पालि यहाँ की प्रधान भाषाएँ थीं। विद्वानों और इतिहासकारों का मानना है कि अरामाइक पर आधारित खरोष्ठी लिपि का विकास तक्षशिला में ही हुआ। तक्षशिला मुद्राओं की ढलाई के लिए भी जानी जाती है और इसे 'मुद्रा निर्माण नगर' कहा गया है। संगीत और नृत्य भी पाठ्यक्रम के अंग थे। यह केंद्र महान व्याकरणकार पाणिनि के नगर के रूप में भी जाना जाता है।

बौद्ध धर्म का भी तक्षशिला से गहरा संबंध था क्योंकि बौद्ध धर्म के महायान संप्रदाय का उदय शिक्षा के इसी केंद्र में हुआ और यहीं उसने एक परिपक्व व बौद्धिक आकार ग्रहण किया। इसीलिए बौद्ध परंपराओं में इस संस्थान को बहुत सम्मान और इसकी शिक्षा को बहुत महत्व दिया जाता है। बौद्ध कथाओं, जातकों, में तक्षशिला का उल्लेख गांधार राज्य की राजधानी नगरी के रूप में किया गया है। किंतु, विद्वानों में इस बात को लेकर मतभेद है कि तक्षशिला गंधार की राजधानी थी।

तक्षशिला का एक विहंगम दृश्य
साभार: https://www.diarystore.com/takshashila-university-worlds-first-oldest-university-taksha-institute

भारत के बाहर, यूनानी-रोमन साहित्य के ग्रंथों में तक्षशिला का पर्याप्त उल्लेख मिलता है। यूनानी इतिहासकारों ने तक्षशिला का वर्णन उस युग के संपत्तिशाली, समृद्ध और सुप्रबंधित नगर के रूप में किया है। फारस के आकेमेनिड राजाओं का भी तक्षशिला केंद्र से गहरा संबंध था और आगे चलकर उन्होंने तक्षशिला व गांधार के आसपास के क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया। वे यहीं नहीं रुके, तक्षशिला और गांधार के महत्व से वे इतने प्रेरित थे कि उन्होंने इस पर कब्जा करने और अपने साम्राज्य का हिस्सा बना लेने का निर्णय किया। मकदूनिया के सिकंदर के आगमन तक आकेमेनिडों का शासन जारी रहा। तक्षशिला पर आकेमेनिडों की विजय के बाद तत्कालीन तक्षशिला विश्वविद्यालय में एक विश्वजनीन परिवेश का विकास हुआ, जिसमें कई संस्कृतियों और नृजातीयताओं को परस्पर मेलजोल और ज्ञान तथा बुद्धि-विवेक का आदान-प्रदान करते देखा जा सकता था। बहुत से लोगों का मानना है कि बुद्ध और उनके समकालीन ज्ञान, शिक्षा और विदग्धता प्राप्त करने के लिए आकेमेनिडकालीन तक्षशिला गए थे और इस प्रकार प्राप्त इन अनुभवों तथा ज्ञान व बुद्धि-विवेक का लाभ निश्चय ही भगवान बुद्ध को भी मिला। बौद्ध धर्म के एक केंद्र के रूप में, शिक्षा का यह केंद्र विभिन्न संस्कृतियों जैसे आकेमेनिड, यूनानी, मौर्य, सिथियन, पार्थियन, कुषाण, हूण और अंततः मुस्लिम संस्कृतियों के एक मिलन स्थल का कार्य करता था।4 तक्षशिला की यह विशेषता विश्व के विभिन्न भागों के छात्रों और विद्वानों को आकर्षित करती थी। चीन, यूनान और फारस के विद्वान अक्सर तक्षशिला और आगे चलकर नालंदा विश्वविद्यालय आया करते थे। जातकों के अनुसार, अरब जगत के छात्र भी ज्ञान के इस केंद्र में आते थे। तक्षशिला विश्वविद्यालय में प्रवेश के लिए निर्धारित आयु सीमा सोलह थी।

व्यापार के एक केंद्र के रूप में, तक्षशिला व्यापार जगत में प्रसिद्ध था। यह न केवल बौद्ध शिक्षा का एक केंद्र बल्कि पूर्व को पश्चिम से जोड़ने वाले प्रसिद्ध सिल्क रोड (रेशम मार्ग) के किनारे कूटनीतिक दृष्टि से स्थित एक नगर था, यूनानी लेखक मेगस्थनीज ने

भारत के पूर्वी भाग से आने वाले एक मार्ग का 'शाही राजमार्ग' के रूप में वर्णन किया है, जो व्यापार और वाणिज्य की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण था। इस प्रकार, तक्षशिला आर्थिक और सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों से समृद्ध थी।[5] तक्षशिला में सांस्कृतिक महत्व के अठारह स्थल हैं। इन महत्वपूर्ण सांस्कृतिक मूल्यों के कारण ही, यूनेस्को ने तक्षशिला को विश्व की सांस्कृतिक धरोहर के महत्वपूर्ण केंद्रों में शामिल किया है। विश्व के अधिकांश भागों को जोड़ने वाले प्रमुख प्राचीन व्यापार मार्ग (सिल्क रोड व्यापार मार्ग) के रूप में जब इस नगर का महत्व बढ़ा, तो प्रतिद्वंद्विता भी बढ़ी और दुर्भाग्यवश ईस्वी सन् की पाँचवीं शताब्दी में शिक्षा और संस्कृति तथा व्यापार का यह प्रसिद्ध केंद्र हूणों के कोप का शिकार बना।

इसमें कोई संदेह नहीं कि तक्षशिला शिक्षा का एक अद्वितीय केंद्र था। राजकुमार और अन्य कुलीन लोग शिक्षा और ज्ञान की खोज में इस नगरी की शरण लेते थे। यह शिक्षा और प्रशिक्षण का एक केंद्र थी, जहाँ धार्मिक और राजनीतिक जीवन को बौद्धिक रूप से विकास के लिए बेहतर अवसर मिलते थे। तक्षशिला घाटी के नगरों में शहरी जीवन के विकसित रूप के विशिष्ट उदाहरण यत्र-तत्र मिलते थे। भीर का टीला, सिरकाप में पार्थियन नगर और सिरसुख में कुषाण नगर जैसे नगर अति विकसित थे और शिक्षा के इस केंद्र के विकास में उनका महती योगदान था। यह बौद्ध मठों, विहारों, स्तूपों और मंदिरों के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। तक्षशिला के पुनरान्वेषण के प्रति सर जे. एच. मार्शल का महती योगदान और विद्वत्तापूर्ण प्रयास सराहनीय हैं। यह पुरातत्व में उनकी गहरी अभिरुचि और समर्पण से ही संभव हो सका। प्राचीन भारत के इतिहास में बौद्ध और गांधार युग में यह अंतरराष्ट्रीय व्यापार और वाणिज्य का एक शक्तिशाली मार्ग भी था, जहाँ महान संस्कृतियों के बीच परस्पर मिलन देखा जाता था। तक्षशिला को उसकी विश्व सभ्यताओं को देन और शिक्षा व संस्कृति के एक केंद्र के रूप में उसकी विशिष्टता के लिए सदैव स्मरण रखा जाना चाहिए। ■

इसमें कोई संदेह नहीं कि तक्षशिला शिक्षा का एक अद्वितीय केंद्र था। राजकुमार और अन्य कुलीन लोग शिक्षा और ज्ञान की खोज में इस नगरी की शरण लेते थे। यह शिक्षा और प्रशिक्षण का एक केंद्र थी, जहाँ धार्मिक और राजनीतिक जीवन को बौद्धिक रूप से विकास के लिए बेहतर अवसर मिलते थे

संदर्भ संकेत

1. *https://en.wikipedia.org/wiki/Taxila*
2. *Basham, A.L., The Wonder That Was India, published by Rupa& Co. (re-printed in 1990), Kolkata, p.48*
3. *Ibid, p. 47*
4. *https://www.ancient.eu/taxila/ by Muhammad Bin Naveed*
5. *https://en.unesco.org/silkroad/silk-road-themes/world-heritage-sites/taxila*

पश्तून लोककथाएं

खुशनसीबी कहाँ है?

एक आदमी ने अपने खुशनसीब भाई से पूछा "खुशकिस्मती कहाँ हैं?" उसके भाई ने जबाव दिया "जंगल में"। तो वह बदकिस्मत आदमी जंगल की तरफ निकल गया। रास्ते में वह एक शेर से मिला। जब शेर ने सुना कि वह आदमी कहाँ जा रहा है तो उसने उस आदमी से अनुरोध किया कि पता लगाकर आए कि वह बीमार क्यों है और क्यों वह ठीक नहीं हो पा रहा। जब वह आदमी आगे बढ़ा तो उसे एक कमजोर घोडा मिला, जो खड़ा भी नहीं हो पा रहा था। फिर जब वह एक पेड़ के पास आया तो उसने उस आदमी से कहा कि वह पता लगाकर आए कि उसके पत्तियां क्यों नहीं हैं? फिर जब आदमी उस जगह पहुँचा जहां पर उसकी खुशकिस्मती थी, तो उसने उसे पकड़ लिया। उसका नसीब बोला "तुम्हारा नसीब तो अच्छा हो सकता है, मगर तुम्हारे पास अक्ल नहीं है!" उस आदमी ने शेर, घोड़े और पेड़ के सवाल पूछे। उसके नसीब ने कहा "शेर से कहना कि वह एक बेवकूफ को खाएगा तो ठीक हो जाएगा। घोड़े से कहना कि वह अपनी पीठ पर सवारी करने के लिए एक मालिक खोजे तो वह मजबूत हो जाएगा। और पेड़ से कहना कि उसकी जड़ों में सात राजाओं का खजाना दबा हुआ है, अगर वह उस खजाने को निकाल कर बाँट देगा तो वह पत्तियों से भर जाएगा।" घर जाते समय वह आदमी सभी जगहों पर रुका और उसने पेड़ को बताया। और पेड़ ने कहा कि वह ही उसका खजाना खोद दे। उस आदमी ने कहा कि मैं क्या करूंगा अमीरी का, मेरे पास मेरा नसीब है। फिर वह घोड़े के पास पहुंचा तो घोड़े को जब उसने हल बताया तो घोड़े ने उससे अपना मालिक होने की गुजारिश की। मगर उस आदमी ने फिर सोचा कि मेरा नसीब तो मेरे पास ही है, मुझे क्या करना इस घोड़े का! फिर वह जब उस शेर के पास गया और उसने उसका इलाज बताया तो शेर ने पूरी कहानी पूछी। उस आदमी ने पेड़ और घोड़े की बात बताई! शेर हंसा और शेर ने कहा कि तुमसे बेवकूफ कौन है! और उसे मारकर खा लिया! ■

डॉ. शहबाज आमिल

तक्षशिला : विश्व का प्राचीनतम विश्वविद्यालय

गंधार के अति बहुमूल्य रत्नों में से एक तक्षशिला न केवल उच्च शिक्षा, बल्कि भारतवर्ष का एक बौद्धिक केंद्र भी रहा है। उसके अध्ययन-अध्यापन, शिक्षकों, प्रशासन और जीवनशैली पर एक सूक्ष्म दृष्टि

भारतीय प्रायद्वीप के उत्तर-पश्चिम भूभाग में तक्षशिला में स्थापित इस संस्थान को उन्नत शिक्षा का पहला अंतरराष्ट्रीय संस्थान होने का गौरव प्राप्त है। विश्वविद्यालय कुल मिलाकर शिक्षा के संदर्भ में मानवीय उपलब्धि के चरमोत्कर्ष का प्रतीक है, वहाँ जिन विषयों की शिक्षा दी जाती और जिन पर शोध किया जाता, उनकी कोई तुलना आज उपलब्ध शैक्षणिक विधाओं की आधुनिक अवधारणा से नहीं की जा सकती।

माना जाता है कि इस विश्वविद्यालय की स्थापना कुरु राजकुमार दुर्योधन ने अपनी माता गांधारी के जन्म स्थान स्मृति को सहेजने के लिए की थी। यह विश्वविद्यालय उस स्थान पर स्थित है जो मध्य एशिया को भारत और पश्चिम एशिया से जोड़ता है। प्लिनी के अनुसार यह विश्वविद्यालय सिंधु नदी से पचपन मील दूर पूर्व में स्थित था। कुषाण शासनकाल के दौरान यह बौद्ध शिक्षा का एक महत्वपूर्ण केंद्र था। इस विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध होने का एक कारण यह भी था कि व्यावसायिक केंद्र होने के अतिरिक्त तक्षशिला विश्व के त्रिकोणीय व्यापार मार्गों के संगम पर स्थित थी।

सन् 455 में तक्षशिला पर हूणों के आक्रमण के समय विश्वविद्यालय का पतन हो गया। इसका पहला उल्लेख फाह्यान[1] के यात्रा वृत्तांत में मिलता है, जो सन् 400 में भारत आया था। फाह्यान जब तक्षशिला आया था, तब उसे ऐसा कुछ भी नहीं मिला जो शैक्षिक महत्व का हो। आक्रमण के क्रम में लगभग सभी मूल पांडुलिपियों समेत विश्वविद्यालय को तहस-नहस कर दिया गया था। किंतु कुछ बौद्ध भिक्षु कुछ दुर्लभ पांडुलिपियों के साथ सुरंगों के माध्यम से चीन भाग गए।[2]

प्रवेश प्रक्रिया

प्रवेश योग्यता तथा व्यक्तित्व के आधार पर मिलता था। किसी भी जाति की किसी भी पृष्ठभूमि के किसी भी व्यक्ति को दाखिला तभी मिल सकता था, जब उसे शिक्षा के मूल तत्वों की जानकारी हो। दाखिला उन्हीं छात्रों का हो सकता था, जिन्होंने सोलह वर्ष की आयु और विभिन्न आश्रमों (स्कूलों) में स्नातक की शिक्षा पूरी कर ली हो। वस्तुत:, उन लोगों के लिए दाखिला कभी कोई समस्या नहीं थी, जो वांछित योग्यताएँ रखते हों, यानी सद्भाव, स्पष्टवादिता और आत्मसंयम। वास्तव में, शिक्षक छात्रों के सर्वांगीण विकास के लिए अधीर रहते और इस निमित्त प्रार्थना भी करते थे।[3] जातकों में ऐसे राजकुमारों की कथाओं का उल्लेख है, जिन्हें उन्नत शिक्षा के लिए राजाओं ने सोलह वर्ष की आयु में तक्षशिला भेजा था[4], वहीं कुछ राजा अन्य छात्रों को छात्रवृत्तियाँ भी देते थे। धनुर्विद्या में विशेषज्ञता प्राप्त करने के लिए राजा ने बनारस के एक ब्राह्मण बालक जोतिपाल को तक्षशिला भेजा था।[5]

विभिन्न क्षेत्रों में शिक्षा प्राप्त करने हेतु कुछ छात्र अपने राजकुमारों के साथ भी जाया करते थे। ऐसे छात्रों से शुल्क के रूप में लगभग एक सहस्र स्वर्ण मुद्राएँ ली जाती थीं। जो यह राशि जमा करने में असमर्थ होते, उन्हें इसके बदले श्रमदान करना पड़ता था।[6] ऐसे छात्रों को शिक्षा रात में दी जाती थी। यह आवश्यक नहीं था कि सभी छात्र अंतेवासी हों; बहुत से छात्र दिन में ही पढ़ाई करते थे। बनारस का राजकुमार अपने प्रवास के दौरान परिसर से बाहर एक किराये के घर में रहता था।[7] विश्वविद्यालय के छात्र अपनी रुचि के अनुरूप अध्ययन के विषयों का चयन कर सकते थे। एक कार्यक्रम के अध्यापन की विधि दूसरे कार्यक्रम

के अध्यापन की विधि से भिन्न होती थी। अध्ययन के सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों पक्ष अनिवार्य थे। सिद्धांत के बाद प्रयोग। कई विधाओं में, अध्ययन पूरा हो जाने के बाद व्यावहारिक कार्य की व्यवस्था थी। इतना अवश्य था कि यदि कोई छात्र ग्रंथों को शब्दशः कंठस्थ कर लेता, किंतु अर्थ नहीं समझ पाता और यथार्थ जीवन में उसे व्यवहार में नहीं लाता, तो उसका नामांकन निरस्त कर दिया जाता और उसे पढ़ाई बीच में ही छोड़ देनी पड़ती।

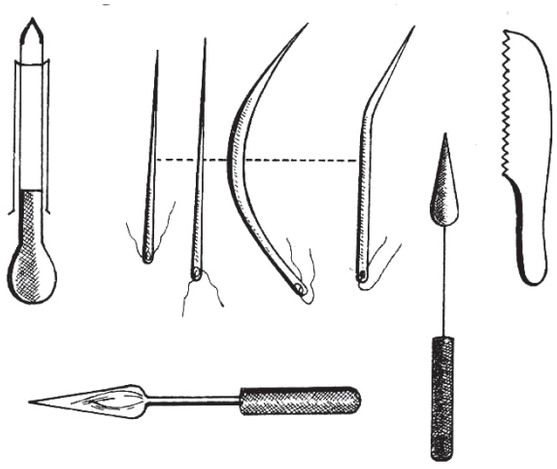

सुश्रुत के शल्य उपकरण
साभार: https://haribhakt.com/wpcontent/uploads/2015/01/sushruta_surgical_devices_instruments.jpg

छात्रों के व्यक्तित्व का विकास ही प्रमाणपत्र और शैक्षिक उपाधि होता था; उपाधि प्रदान करने की दीक्षांत समारोह जैसी कोई व्यवस्था नहीं थी।[8] शिक्षा को सच्चा पारितोषिक माना जाता था, किसी आर्थिक लाभ के लिए उसके उपयोग को अनैतिक समझा जाता।[9] कोई छात्र जब तक अपने पूर्वगामी स्तरों पर पूरी तरह से आधिपत्य नहीं कर लेता तब तक उसे उच्च स्तर में प्रवेश की अनुमति नहीं दी जाती थी।[10] अध्ययन के विभिन्न विषयों में विशेषज्ञता सामान्य स्थिति में आठ वर्षों में पूरी हो जाती, किंतु छात्रों की बौद्धिक क्षमता और उनके द्वारा प्रदर्शित ऊर्जा व अनुप्रयोग की मात्रा के अनुरूप अवधि में कमी या वृद्धि की जा सकती थी।[11]

विश्वविद्यालय की शैक्षिक गतिविधियों पर कोई नियंत्रण नहीं होता था। इनका प्रबंधन सामान्यतः संस्थानों के छात्र ही किया करते थे। प्रत्येक शिक्षक अपने आप में एक संस्थान होता था और उसे अपने कार्य में पूरी स्वायत्तता प्राप्त होती थी। पाठ्यक्रम की अवधि तय करने, पाठ्यक्रमों की दिशा का निर्धारण करने, छात्रों का चयन या उन्हें अस्वीकार करने और दिनचर्या हेतु मार्गदर्शन के नियम निर्धारित करने में उसका आदेश अंतिम होता था।[12] प्रत्येक छात्र अपने कार्य के प्रति स्वतंत्र होता था; शिक्षक जब किसी छात्र के कार्य के स्तर से संतुष्ट हो जाता, तब उसकी शिक्षा का समापन होता। शिक्षा पूरी हो जाने पर छात्र अपने शिक्षकों को दक्षिणा के रूप में कुछ देते, किंतु इस प्रकार दी गई यह राशि शिक्षा पर आने वाले व्ययों को पूरा करने के लिए कभी पर्याप्त नहीं होती। यह दक्षिणा कई बार पगड़ी, एक जोड़ा खड़ाऊँ, एक छाते या फिर उत्तरीय के रूप में दी जाती।[13]

इस विद्यापीठ में पढ़ने के लिए देश-विदेश के दूर-दराज के क्षेत्रों से छात्र आते थे, जैसे भारत में राजगृह, बनारस, उज्जैन, मिथिला, कोशल, मध्य देश और उत्तर में कुरु राज्य आदि तथा अन्य देशों में फारस, अरब, यूनान, चीन आदि। इस प्रकार, तक्षशिला भारत की बौद्धिक राजधानी थी, एक केंद्रीय विश्वविद्यालय जिस पर भारत के विद्वत समाज का आधिपत्य था। देश के विभिन्न भागों में स्थित शिक्षा के अन्य सभी केंद्र इससे संबद्ध थे।[14]

उपलब्ध पाठ्यक्रम

इस विश्वविद्यालय में जिन विषयों की शिक्षा दी जाती थी, वे सांस्थायित (अगतिशील) नहीं बल्कि विकासपरक होते थे; संस्थान के परिसर के भीतर और बाहर हर शिक्षक एक संस्थान होता था। तक्षशिला में उपलब्ध पाठ्यक्रम का दायरा अपने स्वरूप में मौलिक (सैद्धांतिक) और व्यावहारिक दोनों होता था। व्यावहारिक शिक्षा में मुख्यतः वैज्ञानिक या तकनीकी पाठ्यक्रम होते थे, जिन्हें शिल्प कहा जाता था। वेदों के अध्यापन की प्रविधि मौखिक (श्रुति) और उसके अध्ययन की प्रविधि स्मृति आधारित थी। यहाँ विभिन्न विषयों से संबद्ध 60 से अधिक पाठ्यक्रमों की शिक्षा दी जाती थी। विश्वविद्यालय में वेदों, वेदांत, भाषा विज्ञान, आयुर्वेद, शल्य क्रिया, अठारह शिल्प कलाओं (शिल्पों), युद्ध व धनुर्विद्या समेत सैन्य प्रशिक्षण, खगोल विद्या, कृषि, वाणिज्य, राजनीति और कई अन्य विषयों की शिक्षा दी जाती थी। इसमें कोई संदेह नहीं कि भारत आदिकाल से ही विभिन्न विधाओं में अपने वैज्ञानिक और बौद्धिक प्रयासों के लिए जाना जाता रहा है। भारत की बौद्धिक परंपरा कई बार और कई दिशाओं में आधुनिक विश्व को भी पीछे छोड़ देती है। लगभग तीन सहस्राब्दी पूर्व इस विशाल संस्थान का अस्तित्व में होना विज्ञान, मानविकी, सामाजिक और राजनीतिक अर्थव्यवस्था, भाषाविज्ञान, विधि एवं दर्शन आदि के क्षेत्र में भारत के बौद्धिक अन्वेषणों का परिचय देता है। ये सब शिक्षा की उन विधाओं में स्पष्ट दिखाई देते हैं, जिनका अध्ययन-अध्यापन तथा शोध तक्षशिला में छात्रों और शिक्षकों का एक समूह करता था, जो अपने-अपने क्षेत्र के महारथी होते थे। उन दिनों प्रशासनिक अथवा शैक्षिक कोई पदानुक्रम नहीं होता था जैसा कि विश्व के सभी आधुनिक संस्थानों में आज देखा जा सकता है।

यह विश्वविद्यालय अपनी चिकित्सा शिक्षा के लिए प्रख्यात था। इस पाठ्यक्रम की अवधि सात वर्षों की होती थी, जिसके बाद छात्र औषधि और शल्य चिकित्सा के क्षेत्र में विशेषज्ञता प्राप्त करते थे। जटिल शल्य चिकित्साएँ, जैसे सिरों और आमाशय की शल्य चिकित्सा, यहाँ की जाती थी। छात्रों को औषधीय गुणों वाले पादपों और जड़ी-बूटियों से रोगियों का इलाज करने की शिक्षा दी जाती थी, इसलिए प्रत्येक छात्र से औषधीय वनस्पति विज्ञान में निपुणता की अपेक्षा की जाती थी। छात्र जब शिक्षा पूरी कर लेता था, तब उसे जाने और औषधीय तथा शल्य चिकित्सकीय उपचार करने की अनुमति दी जाती थी। सर्पदंश का उपचार सफलतापूर्वक किया जाता था। छात्रों को शल्य उपकरणों के उपयोग का व्यावहारिक प्रशिक्षण दिया जाता था।[15]

इस विश्वविद्यालय में सैन्य विज्ञान संस्थान की स्थापना विशेष रूप से राजकुमारों के

लिए की गई थी। इस विभाग की छात्रों की औसत क्षमता लगभग 103 थी, किंतु एक बार यह संख्या बढ़कर 500 हो गई थी। सैन्य पाठशाला में धनुर्विद्या, पर्वतारोहण और मल्ल युद्ध का प्रशिक्षण दिया जाता था। संजीव जातक में उल्लेख है कि इस विश्वविद्यालय में जिन विषयों की शिक्षा दी जाती थी उनमें जादू-टोना भी एक था।[16] विश्वविद्यालय में विभिन्न गुप्त विद्याओं की शिक्षा भी दी जाती थी।

विश्वविद्यालय में दस हजार से अधिक छात्रों और दो हजार शिक्षकों के रहने की व्यवस्था थी। इस प्रकार, शिक्षक और छात्र का अनुपात पाँच छात्रों पर एक शिक्षक था। परिसर में तीन सौ व्याख्यान आगार (लेक्चर हॉल), प्रयोगशालाएँ और वेधशालाएँ तथा रत्नसागर, रत्नदवी व रत्नयाज्ञिक नामक तीन भवनों में फैले पुस्तकालय थे। विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में विभिन्न विषयों जैसे धर्म, राज्य व्यवस्था, साहित्य, स्वास्थ्य-चिकित्सा और दर्शन, पर पांडुलिपियों का एक विशाल संग्रह उपलब्ध था।[17] पुस्तकालय में प्रयुक्त वर्गीकरण प्रणाली का गठन महान पाणिनि ने किया था।[18]

पूर्व छात्र

इस विश्वविद्यालय के शिक्षकों और छात्रों को उस युग में भारत में विशिष्ट स्थान प्राप्त था। भाषा विज्ञान के जनक पाणिनि विश्वविद्यालय के छात्र और शिक्षक दोनों थे। भाषा संरचना के सिद्धांत को उन्होंने एक बहुत ही संक्षिप्त ग्रंथ अष्टाध्यायी में नियमबद्ध किया है। यह ग्रंथ विश्व की किसी भी भाषा का व्याकरण है। आधुनिक भाषा विज्ञान के सभी सिद्धांत इसी से उत्पन्न हुए हैं। नोआम चोम्सकी कहते हैं कि वह पाणिनि के ऋणी हैं जिनके व्याकरण में निहित उनके गणितीय कार्य को कंप्यूटर विज्ञान का अगुआ माना जाता है।[19] अन्य अध्येता जैसे पाणिनि के अनुज पिंगल, और पतंजलि (महाभाष्य के रचयिता) इस विश्वविद्यालय के छात्र थे।

चंद्रगुप्त मौर्य के मंत्रणाकार और गुरु चाणक्य, जिन्होंने मौर्य साम्राज्य की स्थापना में मार्गदर्शन किया, इस विश्वविद्यालय के एक प्राध्यापक थे। माना जाता है कि उन्होंने अर्थशास्त्र की रचना की, जिसमें शासन कला, प्रशासन कौशलों और आर्थिक नीतियों पर आधारित पंद्रह खंड हैं। पंचतंत्र के रचयिता विष्णु शर्मा, धनुर्विद्या और सैन्य विज्ञान में दक्ष बनारस के सेना नायक जोतिपाल और कोशल के विद्वान राजा प्रसेनजित इसी विश्वविद्यालय के छात्र थे।

आयुर्वेद के प्रसिद्ध चिकित्सक चरक इसी विद्यापीठ के एक छात्र थे, जिन्होंने चरक संहिता में अग्निवेश संहिता को सरल रूप में प्रस्तुत करने के साथ-साथ औषधीय पेड़-पौधों पर अपने शोध को भी शामिल किया। महान चिकित्सक जीवक, जिन्हें नाड़ी गणना पर विशेषज्ञता प्राप्त थी, ने स्नातक की शिक्षा यहीं से प्राप्त की थी। वह मगध नरेश बिंबिसार के दरबारी चिकित्सक और बुद्ध के निजी चिकित्सक थे। उन्होंने फाइलेरिया की चिकित्सा की खोज भी की थी। उनकी पंद्रह हजार हस्तलिखित पांडुलिपियाँ हैं जो भारत में अभी तक सुरक्षित हैं।

उपसंहार

तक्षशिला प्राचीन भारत का उच्चतर शिक्षा का प्राचीनतम और सर्वाधिक सुप्रसिद्ध संस्थान तथा बौद्धिक केंद्र था। यह प्राचीन भारत में बौद्धिक गतिविधियों का केंद्र था और देश के उस युग के प्राय: अन्य सभी संस्थान इसके अंगीभूत थे। यह इसलिए प्रसिद्ध हुई क्योंकि इसने प्राचीनकाल के सर्वश्रेष्ठ अध्येताओं को अपने में समाविष्ट कर लिया था, जिन्हें उन विधाओं का विशेषज्ञ माना जाता था, जिनकी शिक्षा वे अपने-अपने क्षेत्रों में देते थे। उन्नत शिक्षा प्राप्त करने के लिए छात्र न केवल भारत के दूर-दराज के क्षेत्रों से बल्कि विश्व के अन्य देशों से भी, यात्रा में कठिनाइयों से जूझते हुए तक्षशिला पहुँते थे। यहाँ तक कि अनुशासन और भाव-भंगिमा की शिक्षा दिलाने के ध्येय से राजा भी अपने पुत्रों को राजभवनों से दूर तक्षशिला भेजा करते थे। यह इस बात का संकेत देता है कि उन दिनों भी भारत में शिक्षा का महत्व था। ■

संदर्भ संकेत

1. *एक चीनी बौद्ध तीर्थयात्री, जो ईस्वी सन् की पाँचवीं शताब्दी में बौद्ध स्थलों के दर्शन करने भारत आया था।*
2. *कमलेश कपूर, हिस्ट्री ऑफ एन्सिएंट इंडिया (पोर्ट्रेट ऑफ एक नेशन), स्टर्लिंग प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 308।*
3. *डी. जी. आप्टे यूनिवर्सिटी इन एन्सिएंट इंडिया, (बड़ौदा: शिक्षा एवं मनोविज्ञान संकाय, महाराजा सायाजीराव बड़ौदा विश्वविद्यालय, पृ. 20।*
4. *हार्टमट शार्फे, एजुकेशन इन एन्सिएंट इंडिया (लीडेन: ब्रिल, 2002), पृ. 142।*
5. *राधाकुमुद मुखर्जी, एन्सिएंट इंडियन एजुकेशन: ब्राह्मोनिकी एंड बुद्धिस्ट, मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन, नई दिल्ली, 1989, पृ. 480।*
6. *शर्मा, राम नाथ एवं राजेंद्र कुमार शर्मा, हिस्ट्री ऑफ एजुकेशन इन इंडिया, एटलांटिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000, पृ. 55।*
7. *शर्मा, पृ. 55।*
8. *शर्मा, पृ. 55।*
9. *आप्टे, पृ. 10।*
10. *आप्टे, पृ. 10।*
11. *आप्टे, पृ. 10।*
12. *आप्टे, पृ. 9।*
13. *आप्टे, पृ. 17-18।*
14. *आप्टे, पृ. 11।*
15. *ए. एल. भाषम, ''दि प्रैक्टिस ऑफ मेडिसिन इन एन्सिएंट एंड मेडिएवल इंडिया'', एन्सिएंट मेडिकल सिस्टम: ए कंपैरेटिव स्टडी, सं. चार्ल्स एम. लेस्ली, कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय प्रेस, कैलिफोर्निया, पृ. 26।*
16. *राजाराम नारायण, इंडियन विचक्राफ्ट, अभिनव प्रकाशन, नई दिल्ली, 1981, पृ. 8।*
17. *जशू पटेल एवं कृष्ण कुमार, लाइब्रेरीज एंड लाइब्रेरियनशिप इन इंडिया, ग्रीन वुड प्रेस, वेस्टपोर्ट, 2001, पृ. 3।*
18. *एम. ए. खान, लाइब्रेरी साइंस एजुकेशन इन इंडिया, सरूप् एंड सन्स प्रकाशन, 1996, पृ. 2।*
19. *टी. आर. एन. राव: बैकस फॉर्म ऑफ लैंग्वेजेज, (http://www.infinityfoundation.com)*

प्रभात प्रकाशन

नवनूतन प्रकाशन की गौरवशाली परंपरा

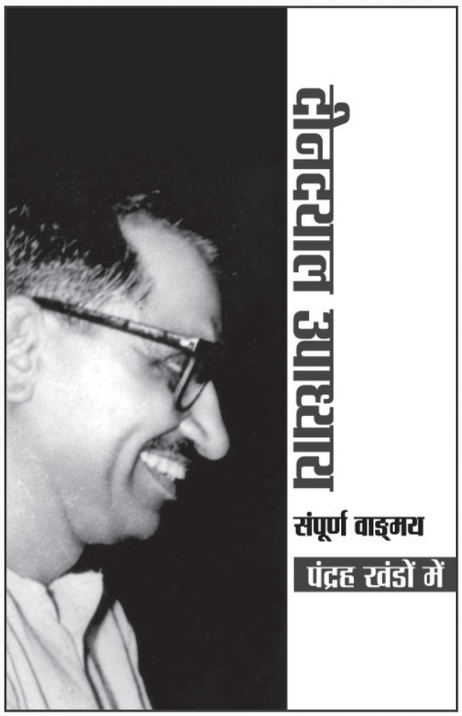

दीनदयाल उपाध्याय

संपूर्ण वाङ्मय (पंद्रह खंडों का सैट)

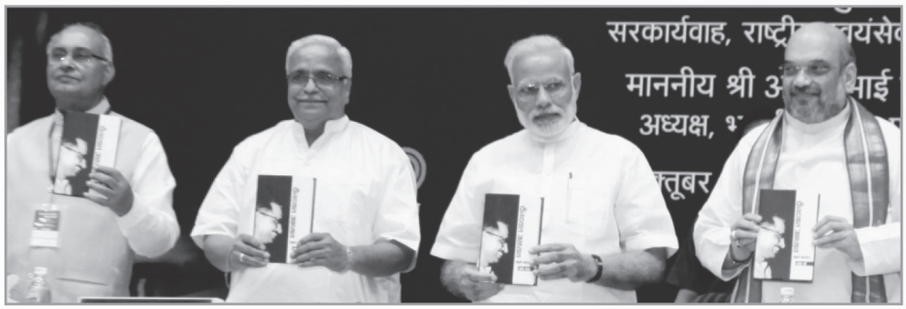

9 अक्तूबर, 2016 को नई दिल्ली के विज्ञान भवन में पं. दीनदयाल उपाध्याय जन्म शताब्दी वर्ष के अवसर पर डॉ. महेश चंद्र शर्मा द्वारा संपादित एवं प्रभात प्रकाशन द्वारा प्रकाशित 'दीनदयाल उपाध्याय संपूर्ण वाङ्मय' के पंद्रह खंडों का लोकार्पण भारत के प्रधानमंत्री मान. श्री नरेंद्र मोदी, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरकार्यवाह मान. श्री सुरेश (भय्याजी) जोशी व भारतीय जनता पार्टी के राष्ट्रीय अध्यक्ष मान. श्री अमित शाह के करकमलों द्वारा संपन्न हुआ।

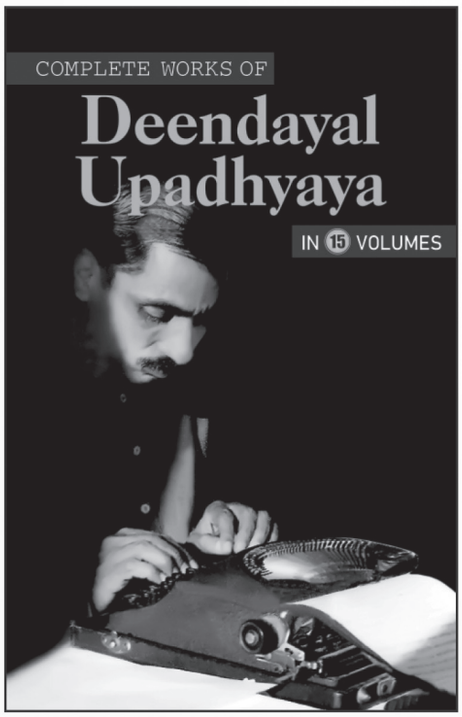

COMPLETE WORKS OF

DEENDAYAL UPADHYAYA

(Set of 15 Volumes)

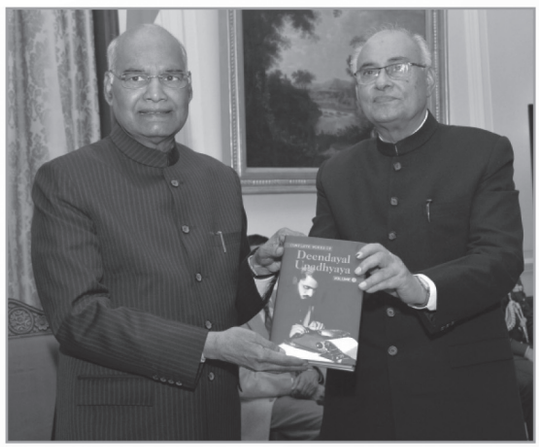

11 फरवरी, 2019 को भारत के राष्ट्रपति मान. श्री राम नाथ कोविंदजी को 'Complete Works of Deendayal Upadhyaya' की प्रथम प्रति भेंट करते हुए प्रधान संपादक डॉ. महेश चंद्र शर्मा

प्रभात प्रकाशन
ISO 9001:2015 प्रकाशक
4/19 आसफ अली रोड, नई दिल्ली-110002
हेल्पलाइन नं. 7827007777 ☎ 011-23289777
E-mail : prabhatbooks@gmail.com ✤ Website : www.prabhatbooks.com

एकात्म मानवदर्शन
अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान
28 मीना बाग, नई दिल्ली-110001
☎ 011-23062611
इ-मेल : ekatmrdfih@gmail.com

मंथन

सामाजिक व अकादमिक सक्रियता का उपक्रम

'मंथन' की सदस्यता लें

एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान से प्रकाशित शोध त्रैमासिक पत्रिका 'मंथन' की सदस्यता लें। भारत–विचार–दर्शन पर केंद्रित इस पत्रिका की सदस्यता के लिए व्यक्ति/संस्थान कृपया निम्न पते पर सूचित करें और शुल्क एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान के नाम से स्टेट बैंक ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, एकाउंट नं. 10080533188, आईएफएससी–एसबीआईएन0006199 में जमा करें।

सदस्यता विवरण

नामः.....

पताः .....

..... राज्यः ..... पिनकोड : .....

लैंड लाइनः ..... मोबाइलः (1)..... (2).....

ई मेलः .....

जन–मार्च 2019 से पुनर्निधारित मूल्य

	भारत में	विदेश में
एक प्रति	₹ 200	US$ 9
वार्षिक	₹ 800	US$ 36
त्रिवार्षिक	₹ 2000	US$ 100
आजीवन	₹ 25,000	

प्रंबध संपादक

'मंथन' त्रैमासिक पत्रिका

28, मीना बाग, मौलाना आजाद रोड., नई दिल्ली–110 011

दूरभाषः 9868550000, 011–23062611

ई–मेलः manthanmagzin@gmail.com, ekatmrdfih@gmail.com